॥ श्रीहरिः ॥

374▲

साधन-पथ

(परमार्थ-ग्रन्थमाला तृतीय पुष्प)

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]

हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरिः ॥

साधन-पथ

(परमार्थ-ग्रन्थमाला तृतीय पुष्प)

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरि: ॥

विषय-सूची

॥ श्रीहरिः ॥

निवेदन

इस छोटी-सी पुस्तिकामें जो कुछ लिखा गया है वह बड़े अच्छे-अच्छे लोगोंके अनुभवकी बातें हैं, अतएव यह दावेके साथ कहा जा सकता है कि इस छोटी-सी पुस्तिकाके अनुसार अपना जीवन बनानेवाले सज्जन साधन-पथपर निस्संदेह बहुत कुछ अग्रसर हो सकेंगे।

इस पुस्तिकाका अंग्रेजी अनुवाद Kalyan-Kalpataru मासिक पत्रमें धारावाहिक निकल चुका है। अब अलग पुस्तकाकार भी Way to God-Realization के नामसे छप चुका है। मराठी आदिके पत्रोंमें भी इसके अनुवाद प्रकाशित हुए थे। मेरी विनीत प्रार्थना है कि सच्चे सुखके अभिलाषी सज्जन कुछ दिन प्रयत्न करके देखें।

—**प्रकाशक**

॥ श्रीहरिः ॥

साधन-पथ

जीवनका परम ध्येय

हरिरेव परं ब्रह्म हरिरेव परा गतिः।
हरिरेव परा मुक्तिर्हरिर्गेयः सनातनः॥

—भगवान् व्यास

विविध विघ्न-बाधासंकुल इस जगत्‌में जो मनुष्य भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करता है, वह वास्तवमें बड़ा ही भाग्यशाली है। संसारमें अधिकांश लोग तो यथार्थतः ईश्वरके अस्तित्वको ही नहीं मानते। जो मानते हैं उनमें अधिकांशकी बुद्धि तमोगुणके अन्धकारमय आवरणसे आच्छादित रहनेके कारण वे भगवत्प्राप्तिकी शुभेच्छा नहीं करते। जो सौभाग्यवश श्रवणादिके प्रभावसे भगवत्प्राप्तिके महत्त्वका कुछ ज्ञान रखते हैं, उनकी विक्षिप्त बुद्धि भी प्रायः विविध कामनाओंसे हरण की हुई रहनेके कारण वे भगवान्‌का कुछ भजन-स्मरण करके भी उसके बदलेमें तुच्छ भोगोंकी ही इच्छा करते हैं। इनसे आगे बढ़े हुए कुछ लोग बुद्धिकी सात्त्विक वृत्तियोंके अनुसार साधनका आरम्भ तो करते हैं; परंतु अध्यवसाय और उत्साहकी न्यूनता, लक्ष्यकी अस्थिरता और विघ्नोंकी पहचानके अभाव तथा विघ्ननाशके उपाय न जाननेके कारण चरम लक्ष्यतक पहुँचनेके पहले ही साधन छोड़कर पथभ्रष्ट हो जाते हैं। इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई बिरला ही मेरे लिये (भगवत्प्राप्तिके लिये) यत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवालोंमें भी कोई बिरला भगवत्-परायण पुरुष ही मुझे तत्त्वसे जान सकता है।'

इतना होनेपर भी जीव स्वभावतः चाहता है परमात्माको ही; क्योंकि सुखकी चाह सबको है और सभी पूर्ण, दुःखरहित तथा नित्य सुख चाहते हैं। कोई भी ऐसे सुखका अभिलाषी नहीं है, जो अल्प, दुःखमिश्रित और नाश होनेवाला हो। इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत बार मनुष्य किसी अल्प सुख-विशेषको ही पूर्ण सुख मानकर कुछ समयके लिये उसमें तृप्त होना चाहता है, पर कुछ ही कालके बाद उसको जब उस सुखमें किसी अभावकी प्रतीति होती है तब वह उसमें संतुष्ट न रहकर अभावकी पूर्तिके लिये आगे बढ़ता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उसे अभावमय सुख सदाके लिये संतुष्ट नहीं कर सकता। वह पूर्ण सुख चाहता है। पूर्ण, नित्य अभावरहित सुख उस सत् त्रिकालव्यापी और त्रिकालातीत परमात्माका स्वरूप है। इस न्यायसे विविध जीव-नदियोंका प्रवाह भिन्न-भिन्न पथोंसे अनेकमुखी होकर उस एक ही नित्य सुख-सागर परमात्माकी ओर सतत बह रहा है। जीवकी यह अनादिकालीन सुखस्पृहा—उसकी परमात्म-मिलनाकांक्षाको प्रकट करती है, जहाँतक उसे अपने चरम लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो जायगी, वहाँतक इस प्रवाहकी गतिका कभी विराम नहीं होगा।

परंतु अज्ञान-तिमिराच्छन्न होनेके कारण सुखके यथार्थ स्वरूपको जीव पहचान नहीं सकता। इसीसे उसके मार्गमें अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित होते हैं। वह कभी मार्ग भूल जाता है, कभी रुक जाता है, कभी उलटे चलनेकी चेष्टा करता है, कभी हताश होकर बैठ जाता है और कभी किसी पान्थशालाको ही

घर मानकर, अल्प सुखको ही परमसुख समझकर उसीमें रम जाता है। इसीलिये ऐसे जीव पामर या विषयी कहलाते हैं। इसके विपरीत जो अपने ध्येयको समझकर उसीकी प्राप्तिके लिये बड़ी तत्परताके साथ यथाशक्ति नित्य-निरन्तर प्रयत्न करते हैं, वे (मुमुक्षु) साधक कहलाते हैं। इस प्रकार साधन-पथारूढ़ होनेके लिये सबसे पहले ध्येय निश्चित करने, लक्ष्य ठीक करनेकी आवश्यकता है।

परम ध्येय क्या है?

मनुष्यको सबसे पहले इस बातका निश्चय करना चाहिये कि मेरे जीवनका परम ध्येय क्या है? किस लक्ष्यकी ओर जीवनको ले चलना है। जबतक यह स्थिर नहीं कर लिया जाता कि मुझे कहाँ जाना है, तबतक मार्ग या मार्गव्ययकी चर्चा करना जैसे निरर्थक है, वैसे ही जबतक मनुष्य अपने जीवनका ध्येय निश्चित नहीं कर लेता कि मुझे इस जीवनमें क्या लाभ करना है, तबतक कौन-से योगके द्वारा क्या साधन करना चाहिये, यह जाननेकी चेष्टा करना भी व्यर्थ है। इस समय जगत्में अधिक लोग प्रायः निरुद्देश्य ही भटक रहे हैं—प्रकृतिके प्रवाहमें अन्धे हुए बह रहे हैं। उन्हें यह पता नहीं कि हम कौन हैं? जगत्में मानवदेह धारण करके क्यों आये हैं और हमें क्या करना है? किसी भी प्रकारसे धनोपार्जन कर कुटुम्बका भरण-पोषण करना और उसीके लिये जीवन बिता देना साधारणतः यही अधिकांश लोगोंकी जीवनचर्या है।

ऊपर कहा जा चुका है और यह प्रत्येक मनुष्यका अनुभव भी है कि हम सुख चाहते हैं। अब विचार यह करना है कि हम जिन वस्तुओंके संग्रह और संरक्षणमें अपना जीवन बिता रहे हैं,

वे क्या वास्तवमें सुखरूप हैं? यह तो सभी जानते हैं कि संसारकी प्रत्येक वस्तु क्षणभंगुर और विनाशशील है। जो विनाशी है वह अनित्य है और जो अनित्य है उसका एक दिन वियोग अवश्यम्भावी है। जिस वस्तुकी प्राप्ति और भोगके समय सुख होता है उसके वियोगमें दुःख अवश्य होगा। अतः संसारकी प्रत्येक वस्तु वियोगशील होनेके कारण दुःखप्रद है। पुत्रके जन्मके समय बधाइयाँ बाँटी जाती हैं, बड़ा आनन्द होता है, बच्चेको घरमें खेलता देख-देखकर चित्त-कुसुमकी कलियाँ खिल जाती हैं, परंतु एक दिन ऐसा अवश्य आता है, जिस दिन या तो वह हमें छोड़कर चल बसता है या उसे छोड़कर हमें परवश परलोक सिधारना पड़ता है। अपनी मानी हुई प्रिय वस्तु जब छूटती है तब जो दुःख होता है उसका अनुभव प्रायः हम सभीको है। इसलिये इस पुत्रवियोगमें हमें उतना ही, प्रत्युत उससे भी अधिक दुःख होता है, जितना सुख उसके जन्म होनेके समय और पीछे उसे आँगनमें खेलते देखकर हुआ था। यही न्याय स्त्री-स्वामी, माता-पिता, गुरु-शिष्य, मान-कीर्ति और शरीर-स्वर्ग आदि सभीमें लागू होता है। सारांश यह कि अनित्य वस्तुमें केवल और पूर्ण सुख कदापि नहीं होता। उसका अन्त तो दुःखमय होता ही है। विचार करनेपर अनित्य वस्तुका सुख भोगकालमें भी दुःखसे सना हुआ ही प्रतीत होता है।

इस लोक और परलोकके सभी भोग-पदार्थ अनित्य हैं। परंतु इस अनित्यके पीछे अधिष्ठानरूपसे जो एक सत्य छिपा हुआ है, जो सदा एक रस और अव्यय है, वही नित्य वस्तु है। उसीके सम्बन्धमें गीता कहती है—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(२।२०)

'जो किसी कालमें न जन्मता है, न मरता है, न होकर फिर होनेवाला है, वह तो अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीरके नाशसे उसका नाश नहीं होता।' ऐसा वह परम पदार्थ केवल परमात्मा है। उस परमात्माके एकत्वमें अपनी कल्पित भिन्न सत्ताको सर्वथा विलीन कर देना—केवल उस एक परमात्माका ही शेष रह जाना भगवत्प्राप्ति है और यही हमारे जीवनका परम ध्येय है। उपर्युक्त नित्यानित्य वस्तु-विचारसे ही यह ध्येय निश्चित किया जाता है। इस ध्येयकी ओर सदा लगे रहनेके लिये सर्वप्रथम साधन है वैराग्य।

वैराग्य

इस लोक और परलोकके समस्त दृष्ट श्रुत या अदृष्ट अश्रुत पदार्थोंसे सर्वथा वितृष्ण हो जाना वैराग्य कहलाता है। जबतक विषयोंमें अनुराग रहता है, तबतक परमात्माकी प्राप्तिके चरम ध्येयपर मनुष्य दृढ़तासे स्थिर नहीं रह सकता। विषयानुरागकी निवृत्ति विषय-विरागसे होती है। विषयोंमें चित्तका अनुराग प्रधानतया चार कारणोंसे हो रहा है—(१) विषयोंका अस्तित्व-बोध, (२) विषयोंमें रमणीयताका बोध, (३) विषयोंमें सुख-बोध और (४) विषयोंमें प्रेमका बोध।

विवेकद्वारा इन चारोंका बाध करनेपर वैराग्यकी प्राप्ति होती है। इसलिये नित्यानित्य वस्तु-विवेककी आवश्यकता पहले होती है। विवेकसे वैराग्य जाग्रत् होता है और वैराग्यसे विवेक स्थिर और परिमार्जित होता है, यह दोनों अन्योन्याश्रित साधन हैं। उपर्युक्त चारों कारणोंमें पहलेका बाध प्राय: सबसे पीछे हुआ करता है; क्योंकि यह पहला ही तीनोंका मूल आधार है। जगत्का अस्तित्व ही बुद्धिसे जाता रहे तो फिर उसमें रमणीयता, सुख और प्रेमका तो कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। परंतु ऐसा होना बहुत कठिन है। अतएव साधकको क्रमश: पिछले तीनोंका बाध करके फिर पहलेका नाश करना पड़ता है।

रमणीयताका बाध

विषयोंकी ओर चित्तवृत्तियोंके आकर्षित होनेमें सबसे पहला कारण उनमें रमणीयताका बोध है। विषयोंमें रमणीयताका भास बुद्धिके विपर्ययसे ही होता है। बुद्धिके विपर्ययमें अज्ञानसम्भूत अविद्या प्रधान कारण है। इस अविद्यासे ही हमें असुन्दरमें

सुन्दर-बुद्धि, अनित्यमें नित्य-बुद्धि, दुःखमें सुख-बुद्धि, अपवित्रमें पवित्र-बुद्धि, प्रेमहीनमें प्रेम-बुद्धि और असत्‌में सत्-बुद्धि हो रही है। उल्लूकी भाँति रातमें दिन और दिनमें रात इस अविद्यासे ही दीखता है। इसीसे हमें अस्थि-चर्मसार शरीर और तत्सम्बन्धीय तुच्छ पदार्थोंमें रमणीय-बुद्धि हो रही है। मनुष्य जिस विषयका निरन्तर चिन्तन करता है, उसीमें उसकी समीचीन बुद्धि हो जाती है, यह समीचीनता ही रमणीयताके रूपमें परिवर्तित होकर हमारे मनको आकर्षित करती रहती है। अब विचारना चाहिये कि विषयोंमें वास्तवमें रमणीयता है या नहीं और यदि नहीं है तो रमणीयता क्यों भासती है?

विचार किया जाय तो वास्तवमें विषयोंमें रमणीयता बिलकुल नहीं है। जो शरीर हमें सबसे अधिक सुन्दर प्रतीत होता है उसमें क्या है? वह किन पदार्थोंसे बना है? हड्डी, मांस, रुधिर, चर्म, मज्जा, मेद, कफ, विष्ठा और मूत्र आदि पदार्थोंसे भरे इस ढाँचेमें कौन-सी वस्तु रमणीय और आकर्षक है? अलग-अलग देखनेपर सभी चीजें घृणास्पद प्रतीत होती हैं। यही हाल और सब वस्तुओंका है। वास्तवमें रमणीयता किसी वस्तुमें नहीं होती, वह कल्पनामें रहती है। कल्पना ही रूढ़ि बनकर तदनुसार धारणा करानेमें प्रधान कारण होती है।

हमलोगोंको जहाँ गौर वर्ण अपनी ओर आकर्षित करता है, वहाँ हबशियोंको काली सूरत ही रमणीय प्रतीत होती है। चीनमें कुछ समय पूर्व स्त्रियोंके छोटे पैरोंमें लोगोंकी रमणीय-बुद्धि थी। लड़कियोंको बचपनसे ही लोहेकी जूतियाँ पहना दी जाती थीं, जिससे उनके पैर बढ़ने नहीं पाते थे। यद्यपि इससे उन्हें चलनेमें बड़ी तकलीफ होती थी, परन्तु रमणीय-बुद्धिसे बाध्य होकर वे प्रसन्नतापूर्वक ऐसा करती थीं। राजस्थानकी मारवाड़ी स्त्रियाँ

बेहूदे गहने-कपड़ोंके भारी बोझसे कष्ट सहन करनेपर भी उन्हें पहनकर अपनेको सुन्दर समझती हैं, पर गुजरातकी सादी पोशाक धारण करनेवाली स्त्रियाँ उसे देखकर हँसती हैं। ठीक इससे विपरीत मनोवृत्ति मारवाड़ी बहनोंकी गुजराती बहनोंके वेष-भूषाके प्रति होती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि रमणीयता किसी विषयमें नहीं है, वह हमारे मनकी कल्पनामें है। हमने ही अपनी रुचिके अनुसार विषयोंमें सुन्दरताकी कल्पना कर ली है।

विषयोंमें सुखका बाध

यह कहा जा सकता है कि मान लिया विषयोंमें रमणीयता नहीं है, परंतु उनके भोगमें सुख तो है। इसका उत्तर यह है कि विषयभोगोंमें वास्तवमें सुख नहीं है। कमरेमें लगे हुए काँचके ग्लोबमें बिजली नहीं होती, वह तो सीधी पावर-हाउससे आती है; क्योंकि उसका उद्‌गमस्थान वही है। इसी प्रकार सुख भी सुखके परम उद्‌गमस्थान आनन्दरूप आत्मासे आता है। विषयमें सुख होता तो भोगके उपरान्त भी उसमें सुखकी प्रतीति होनी चाहिये। पर ऐसा नहीं होता। बड़ी भूख लगी है, सूखी रोटी भी बहुत स्वादिष्ट मालूम होती है, सुन्दर मिष्टान्न मिल गया, खूब पेटभर खाया। जब जरा-सी भी गुंजाइश नहीं रही, पेट फूलनेकी नौबत आ गयी और इसके बाद यदि कोई उसी मिष्टान्नको खानेके लिये हमारी इच्छाके विरुद्ध जोरसे आग्रह करता है तो हमें उसपर गुस्सा आ जाता है। वही मिष्टान्न, जो कुछ समय पूर्व बड़े सुखकी सामग्री था, अब दुःखरूप प्रतीत होता है। इससे पता लगता है कि मिष्टान्नमें सुख नहीं है। हमें भूख लगी थी, भोजनरूपी विषयकी बड़ी चाह थी। जब वह विषय मिला, तब थोड़े समयके लिये—दूसरे अभावकी भावना न होनेतक

चित्त स्थिर हुआ, उस स्थिरचित्तरूपी दर्पणपर सुखस्वरूप आत्माकी झलकका प्रतिबिम्ब पड़ा, सुखका आभास हुआ। हमने भ्रमसे मान लिया कि यह सुख हमें विषयसे मिला है।

इसके सिवा एक बात यह भी विचारणीय है कि यदि विषय सुखरूप है तो एक ही विषय भिन्न-भिन्न प्रकृतिके मनुष्योंमेंसे किसीको सुखरूप और किसीको दुःखरूप क्यों भासता है? एक राजाने किसी शत्रु-राज्यपर विजय प्राप्त की। इससे उसके प्रेमियोंको सुख और विरोधियोंको दुःख होता है। विषयकी एकतामें भी सुख-दुःखके बोधमें तारतम्यता है। यही विषय-सुखका स्वरूप है। इससे यह सिद्ध होता है कि हमने भ्रमसे ही विषयोंमें सुखकी कल्पना कर रखी है, वास्तवमें माया-मरीचिकाकी भाँति इनमें सुख है ही नहीं। इस प्रकारके विचारोंसे सुखका बाध हो जाता है। अब रहा विषयप्रेम।

विषयोंमें प्रेमका बाध

हम कह सकते हैं कि पुत्र-कलत्र-मित्रादिमें रमणीयता और सुख तो नहीं है, परंतु प्रेम तो प्रत्यक्ष ही दीखता है। इसपर भी विचार करनेसे पता लगता है कि विषयोंमें वास्तवमें प्रेम भी नहीं है। स्वार्थ ही प्रेमके रूपमें प्रकाशित हो रहा है। गुरु नानकने क्या अच्छा कहा है—

जगतमें झूठी देखी प्रीत।
अपने ही सुख सों सब लागे, क्या दारा क्या मीत॥
मेरो मेरो सभी कहत हैं, हितसों बाँध्यो चीत।
अन्तकाल संगी नहिं कोऊ, यह अचरजकी रीत॥
मन मूरख अजहूँ नहिं समुझत, सिख दै हार्‌यो नीत।
'नानक' भव-जल-पार परै, जो गावे प्रभुके गीत॥

मान लीजिये घरमें आग लग गयी; गहने, कपड़े, नोट, गिन्नी और स्त्री-पुत्रादिसहित हम घरमें सोये हैं। इतनेमें आँखें खुलीं, अग्निकी ज्वाला देखते ही घबड़ाकर अपनेको बचाते हुए हम गहने-कपड़े, रुपये, गिन्नी बटोरने और स्त्री-पुत्रादिको बचानेके लिये चिल्लाहट मचाने और चेष्टा करने लगे। आग बढ़ी, लपटें हमारी ओर आने लगीं। हम घबड़ाकर सब कुछ वहीं पटक बाहर भाग निकले। प्यारे स्त्री-पुत्रादि अंदर ही रह गये। बाहर निकलकर अपनी जान बचाकर हम उन्हें निकालनेके लिये चिल्लाते हैं; पर अन्दर नहीं जाते। यदि उनमें यथार्थ प्रेम होता तो क्या उन्हें बचानेके लिये प्राणोंकी आहुति सहर्ष न दे दी जाती? इससे सिद्ध होता है कि हमारा उनसे वास्तवमें प्रेमका नहीं, स्वार्थका सम्बन्ध है। जबतक स्वार्थमें बाधा नहीं पड़ती, तभीतक प्रेमका बर्ताव रहता है। कहा है—

जगतमें स्वारथके सब मीत।
जब लगि जासों रहत स्वार्थ कछु, तब लगि तासों प्रीत॥

स्वार्थमें बाधा पड़ते ही बनावटी प्रेमके कच्चे सूतका धागा तत्काल ही टूट जाता है। हम जो स्त्री-पुत्र-धनादिके वियोगमें रोते हैं, सो अपने ही स्वार्थमें बाधा पहुँचते देखकर रोते हैं। यहाँपर यह प्रश्न होता है कि तब जो लोग देशके लिये प्राण विसर्जन कर देते हैं, उनमें तो वास्तविक प्रेम है न? अवश्य ही उनके प्रेमका विकास हुआ है, वे लोग उन क्षुद्र स्वार्थी मनुष्योंकी अपेक्षा बहुत उच्च श्रेणीके हैं, तथापि उनकी भी यह चेष्टा वास्तवमें आत्मसुखके लिये ही है। इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि चेष्टा किसीको नहीं करनी चाहिये। इस प्रकारकी चेष्टाएँ तो अवश्य ही करनी चाहिये। परंतु यह याद रखना चाहिये कि इन चेष्टाओंके होनेमें भी कारण वैराग्य

ही है। अपने शरीरसम्बन्धी क्षुद्र स्वार्थोंसे विराग न होता तो प्रेमका इतना विकास कभी सम्भव नहीं था। यह सब होनेपर भी उन लोगोंका कुटुम्ब, जाति या देशसे यथार्थ प्रेम सिद्ध नहीं होता, इहलौकिक या पारलौकिक सुख, कीर्ति या पदगौरवजन्य आत्मसुखाभिलाषाका ही प्रायः इसमें प्रधान उद्देश्य रहता है। वास्तवमें हम अपने ही लिये सबसे प्रेम करते हैं।

हम अपने शरीरसे भी अपने ही सुखके लिये प्रेम करते हैं। जब शरीरसे सुखमें बाधा पहुँचती है, तब उसको भी छोड़ देना चाहते हैं। अत्यन्त कष्टजनक रोगसे पीड़ित होने या अपमानित और पददलित होनेपर शरीरके नाशकी कामना या चेष्टा करना इसी बातको सिद्ध करता है कि हमारा शरीरसे प्रेम नहीं है। प्रेम तो प्रेमकी वस्तुमें ही होता है। प्रेमकी वस्तु है एकमात्र आत्मा। जगत्‌से भी उसी अवस्थामें असली प्रेम हो सकता है, जब कि हम जगत्‌को अपना आत्मा मान लेते हैं। इसीलिये बृहदारण्यक श्रुतिमें कहा है—**'न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।'** इत्यादि।

यही भाव हमारे प्रति भी और सबका समझना चाहिये। इस प्रकारके विचारोंसे विषय-प्रेमका बाध करनेपर अब एक बात शेष रह जाती है—विषयोंकी सत्ताका बाध।

विषयोंकी सत्ताका बाध

मान लिया कि विषयोंमें रमणीयता, सुख और प्रेम नहीं है, परंतु विषयोंकी सत्ता तो माननी ही पड़ेगी। सत्ता न होती तो देखना, सूँघना, स्पर्श करना, बोलना, सुनना आदि सब क्रियाएँ

प्रत्यक्ष क्योंकर हो सकती हैं? इसपर कहा जा सकता है कि जब रज्जुमें सर्प दीखता है, उस समय क्या उस कल्पित सर्पमें सत्य सर्पबुद्धि नहीं होती? क्या उस समय वह रस्सी ही प्रतीत होती है? यदि रस्सी ही प्रतीत होती है तो उससे डरने या काँपनेका कोई कारण नहीं है। गोसाईंजी महाराजने इस विषयको एक पदमें बड़ी अच्छी तरह समझाया है—

हे हरि! यह भ्रमकी अधिकाई।
देखत, सुनत, कहत, समुझत संसय-संदेह न जाई॥
जो जग मृषा ताप-त्रय-अनुभव होइ कहहु केहि लेखे।
कहि न जाइ मृग-बारि सत्य, भ्रमतें दुख होइ बिसेखे॥
सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहु नाव न पार पाव सो जबलगि आपु न जागै॥
अनविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी।
सम-संतोष-दया विवेकते व्यवहारी सुखकारी॥
'तुलसिदास' सब बिधि प्रपंच जग जदपि झूठ श्रुति गावै।
रघुपति-भगति संत-संगति बिनु, को भव-त्रास नसावै॥

स्वप्नमें समुद्रमें डूबता हुआ मनुष्य जबतक स्वयं नहीं जाग जाता, तबतक बाहरकी करोड़ों नावोंद्वारा भी वह डूबनेसे नहीं बच सकता। यद्यपि पलंगपर सोये हुएके पास समुद्र नहीं है, पर स्वप्नकालमें तो उसे वह सर्वथा सत्य ही प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह संसार सत्तारहित होनेपर भी अविद्यासे सत् भासता है।

भरम परा तिहुँ लोकमें भरम बसा सब ठाँव।
कहै कबीर पुकारिकै, बसे भरमके गाँव॥

इन विचारोंसे सत्ताका बाध करना पड़ता है। परंतु जगत्की सत्ताका बाध करना कहनेमें जितना सुगम है, करनेमें उतना ही कठिन है। बड़ी साधनाका यह परिणाम होता है। इसके

लिये बड़े भारी विवेककी आवश्यकता है। जहाँतक यह न हो, वहाँतक विषयोंमें रमणीयता, सुख और प्रेमबोधका बाध करते रहना चाहिये। यही वैराग्य है।

वैराग्य बिना परमार्थ नहीं

जो लोग बिना वैराग्यके परमार्थ-वस्तुकी प्राप्ति करना चाहते हैं, वे मानो आकाशमें निराधार दीवार उठानेका व्यर्थ प्रयास करते हैं। अतएव वैराग्यकी भावना सदा ही साधकको जाग्रत् रखनी चाहिये। विचारना चाहिये कि जगत्का कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है। धन-वैभव, विद्या-बुद्धि, तेज-प्रभाव, गुण-गौरव, बल-रूप, यौवन-श्री आदि सभी वस्तुएँ मृत्युके साथ ही हमारे लिये धूलमें मिल जाती हैं। आज हम अपने धनके सामने जगत्के लोगों—अपने ही भाइयोंको तुच्छ समझते हैं। ऊँची जाति या विद्याके कारण दूसरोंको नगण्य मानते हैं। नेतृत्वमें अपना कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते। व्याख्यानों और लेखोंसे लोगोंको चमत्कृत कर देते हैं। नीति और चतुराईमें बड़े-बड़े राजनीतिज्ञोंसे भी अपनेको बड़ा मानते हैं। दानमें कर्णकी समताका दम भरते हैं, बलमें भीम कहलाना चाहते हैं। यशस्वितामें अपनी बराबरीका किसीको भी देखना नहीं चाहते। शरीर-मन-बुद्धिपर बड़ा अभिमान है, पर यह खयाल नहीं करते कि इस कच्चे घड़ेको फूटते तनिक-सी देर भी नहीं लगेगी। जहाँ यह तनका घड़ा फूटा कि सब खेल खतम हो गया। फिर इस देहकी दशा यह होती है—

जारे देह भस्म ह्वै जाई, गाड़े माटी खाई।
काँचे कुम्भ उदक ज्यों भरिया, तनकी यही बड़ाई॥

—कबीर

पानीका बुद्बुदा उठा और मिट गया, यही इस शरीरकी स्थिति है—

पानी केरा बुदबुदा अस मानुसकी जाति।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात॥

—कबीर

इसीलिये कबीरजीने चेतावनी देते हुए कहा है—

कबीर नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाय।
यह पुरपट्टन यह गली, बहुरि न देखौ आय॥
सातों नौबत बाजती, होत छतीसों राग।
सो मन्दिर खाली पड़े, बैठन लागे काग॥
आजकालके बीचमें जंगल होगा बास।
ऊपर ऊपर हल फिरैं, ढोर चरैंगे घास॥
हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी, केस जलै ज्यों घास।
सब जग जलता देखकर, भये कबीर उदास॥
झूठे सुखको सुख कहें, मानत हैं मन मोद।
जगत चबेना कालका कछु मुख महँ कछु गोद॥
हाँकै परबत फाटत, समँदर घूँट भराय।
ते मुनिवर धरती गले, क्या कोइ गरब कराय॥
माली आवत देखिके, कलियाँ करैं पुकार।
फूली फूली चुन लई कालि हमारी बार॥
माटी कहै कुम्हार ते, तूँ क्यों रूँधै मोहिं।
एक दिन ऐसा होयगा, मैं रूँधोंगी तोहिं॥
मरहिंगे मरि जायँगे, कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसायँगे, छाँड़ बसंता गाम॥
आसपास योधा खड़े, सभी बजावें गाल।
माझ महलसे लै चला, ऐसा काल कराल॥

जीवनकी यह दशा है। इसलिये चार दिनकी चाँदनीपर इतराना छोड़कर विषयोंसे मन हटाना चाहिये। कबीरजीका एक भजन और याद रखिये—

हमकाँ ओढ़ावै चदरिया, चलती बिरियाँ॥
प्रान राम जब निकसन लागे,
उलट गई दोउ नैन पुतरिया।
भीतरसे बाहर जब लावै,
छूटि गई सब महल अटरिया॥
चारि जने मिलि खाट उठाइन,
रोवत लै चले डगर-डगरिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
संग चली वह सूखी लकरिया॥

विषयोंमें वैराग्य हुए बिना ईश्वरमें अनुराग नहीं हो सकता। ईश्वरानुराग बिना आनन्दकी प्राप्ति असम्भव है। अनित्य परिवर्तनशील और क्षणभंगुर विषयोंमें आनन्दकी कोई सम्भावना नहीं।

बाहरी त्यागका नाम विषय-त्याग नहीं है

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार मनुष्यको विषयोंका परित्याग करनेके लिये सदा सचेष्ट रहना चाहिये। अवश्य ही केवल घर-बार, माता-पिता, स्त्री-पुत्रादिको त्यागकर जंगलमें चले जानेका नाम विषय-त्याग नहीं है। विषयासक्तिका त्याग ही वास्तविक विषय-त्याग है। जबतक आसक्ति है, तबतक गृहादि-त्यागसे कोई खास लाभ नहीं होता। आसक्ति अविद्याजनित मोहसे होती है। जहाँतक बुद्धि मोहसे ढकी हुई है, वहाँतक विषयोंसे वास्तविक वैराग्य नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

(गीता २। ५२)

'हे अर्जुन! जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदलसे निकल जायगी तभी तू सुने हुए और सुने जानेवाले सब विषयोंसे वैराग्यको प्राप्त होगा।' इस मोहको हटानेका ही प्रयत्न करना चाहिये। जबतक मनसे विषयोंकी अनुरक्ति दूर नहीं होती, तबतक केवल बाहरी त्यागद्वारा मनसे यह मोह कभी दूर नहीं होता।

दाढ़ी मूँछ मुड़ाइकै, हुआ जु घोटमघोट।
मनको क्यों मूँड़ा नहीं, जामें भरिया खोट॥

अतएव—

तस्मात्तत्साधनं नित्यमाचेष्टव्यं मुमुक्षुभिः।
यतो मायाविलासाद्वै निर्वृतं परमश्नुते॥

मुमुक्षु पुरुषको मनका मोह दूर करनेवाले उस यथार्थ वैराग्यसाधनका नित्य अभ्यास करना चाहिये, जिससे मायाके कार्य इस नश्वर जगत्से सहज ही छुटकारा मिल सके।

एक लालसा

जीवनका परम ध्येय स्थिर हो जानेपर जब उसके अतिरिक्त अन्य सभी लौकिक-पारलौकिक पदार्थोंके प्रति वैराग्य हो जाता है, तब साधकके हृदयमें कुछ दैवी भावोंका विकास होता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध सात्त्विक बनता जाता है, इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं, मन विषयोंसे हटकर परमात्मामें एकाग्र होता है, सुख-दुःख, शीतोष्णका सहन सहजहीमें हो जाता है, संसारके कार्योंसे उपरामता होने लगती है, परमात्मा और उसकी प्राप्तिके साधनोंमें तथा संत-शास्त्रोंकी वाणीमें परम श्रद्धा हो जाती है, परमात्माको छोड़कर दूसरे किसी पदार्थसे मेरी तृप्ति होगी या मुझे परम सुख मिलेगा, यह शंका सर्वथा मिटकर चित्तका समाधान हो जाता है। फिर उसे एक परमात्माके सिवा अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता, उसकी सारी क्रियाएँ केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये होती हैं। वह सब कुछ छोड़कर एक परमात्माको ही चाहता है। इसीका नाम मुमुक्षा या शुभेच्छा है। मुमुक्षा तो इससे पहले भी जाग्रत् हो सकती है; परंतु वह प्रायः अत्यन्त तीव्र नहीं होती। ध्येयका निश्चय, वैराग्य, सात्त्विक सम्पत्ति आदिकी प्राप्तिके बाद जो मुमुक्षुत्व होता है वही अत्यन्त तीव्र हुआ करता है। भगवान् श्रीशंकराचार्यने मुमुक्षुत्वके तीव्र, मध्यम, मन्द और अतिमन्द—ये चार भेद बतलाये हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक-भेदसे त्रिविध*

---

* अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक रोग आदिसे होनेवाले दुःखोंको आध्यात्मिक, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, वज्रपात, भूकम्प, दैव-दुर्घटना आदिसे होनेवाले

होनेपर भी प्रकार-भेदसे अनेक रूप दुःखोंके द्वारा सर्वदा पीड़ित और व्याकुल होकर जिस अवस्थामें साधक विवेकपूर्वक परिग्रहमात्रको ही अनर्थकारी समझकर त्याग देता है, उसको तीव्र मुमुक्षा कहते हैं। त्रिविध तापका अनुभव करने और सत्—परमार्थ वस्तुको विवेकसे जाननेके बाद मोक्षके लिये भोगोंका त्याग करनेकी इच्छा होनेपर भी संसारमें रहना उचित है या त्याग देना, इस प्रकारके संशयमें झूलनेको मध्यम मुमुक्षा कहते हैं। मोक्षके लिये इच्छा होनेपर भी यह समझना कि अभी बहुत समय है, इतनी जल्दी क्या पड़ी है, संसारके कामोंको कर लें, भोग भोग लें, आगे चलकर मुक्तिके लिये भी उपाय कर लेंगे। इस प्रकारकी बुद्धिको मन्द मुमुक्षा कहते हैं और जैसे किसी राह चलते मनुष्यको अकस्मात् रास्तेमें बहुमूल्य मणि पड़ी दिखायी दी और उसने उसको उठा लिया, वैसे ही संसारके सुख-भोग भोगते-भोगते ही भाग्यवश कभी मोक्ष मिल जायगा तो मणि पानेवाले मुसाफिरकी भाँति हम भी धनी हो जायँगे, इस प्रकारके मूढ़ मतिवालोंकी बुद्धिको अतिमन्द मुमुक्षा कहते हैं। बहुजन्मव्यापी तपस्या और श्रीभगवान्‌की उपासनाके प्रभावसे हृदयके सारे पाप नष्ट होनेपर भगवान्‌की प्राप्तिके लिये तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। तीव्र इच्छा उत्पन्न होनेपर मनुष्यको इसी जीवनमें भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—'**यस्तु तीव्रमुमुक्षुः स्यात् स जीवन्नेव मुच्यते।**' इस तीव्र शुभेच्छाके उदय होनेपर उसे दूसरी कोई बात नहीं सुहाती; जिस उपायसे उसे अपने प्यारेका मिलन सम्भव दीखता है, वह लोक-परलोक किसीकी

दुःखोंको आधिदैविक और दूसरे मनुष्यों या भूतप्राणियोंसे प्राप्त होनेवाले दुःखोंको आधिभौतिक कहते हैं।

कुछ भी परवा न कर उसी उपायमें लग जाता है। प्रिय-मिलनकी उत्कण्ठा उसे उन्मत्त बना देती है। प्रियकी प्राप्तिके लिये वह तन-मन-धन, धर्म-कर्म सभीका उत्सर्ग करनेको प्रस्तुत रहता है। प्रियतमकी तुलनामें, उसकी दृष्टिसे सभी कुछ तुच्छ हो जाता है, वह अपने-आपको प्रिय मिलनेच्छापर न्योछावर कर डालता है। ऐसे भक्तोंका वर्णन करते हुए कहते हैं—

प्रियतमसे मिलनेको जिसके प्राण कर रहे हाहाकार।
गिनता नहीं मार्गकी दूरीको, वह कुछ भी, किसी प्रकार॥
नहीं ताकता, किंचित् भी, शत-शत बाधा विघ्नोंकी ओर।
दौड़ छूटता जहाँ बजाते मधुर-वंशरी नन्दकिशोर॥

—भूपेन्द्रनाथ सान्याल

प्रियतमके लिये प्राणोंको तो हथेलीपर लिये घूमते हैं। ऐसे प्रेमी साधक, उनके प्राणोंकी सम्पूर्ण व्याकुलता, अनादिकालसे लेकर अबतककी समस्त इच्छाएँ उस एक ही प्रियतमको अपना लक्ष्य बना लेती हैं। प्रियतमको शीघ्र पानेके लिये उनके प्राण उड़ने लगते हैं। एक सज्जनने कहा है कि 'जैसे बाँधके टूट जानेपर जलप्लावनका प्रवाह बड़े वेगसे बहकर सारे प्रान्तके गाँवोंको बहा ले जाता है, वैसे ही विषय-तृष्णाका बाँध टूट जानेपर प्राणोंमें भगवत्प्रेमके जिस प्रबल उन्मत्त वेगका संचार होता है, वह सारे बन्धनोंको जोरसे तत्काल ही तोड़ डालता है। प्रणयीके अभिसारमें दौड़नेवाली प्रणयिनीकी तरह उसे रोकनेमें किसी भी सांसारिक प्रलोभनकी प्रबल शक्ति समर्थ नहीं होती, उस समय वह होता है अनन्तका यात्री—अनन्त परमानन्द-सिन्धु-संगमका पूर्ण प्रयासी! घर-परिवार सबका मोह छोड़कर, सब ओरसे मन मोड़कर वह कहता है—

बन बन फिरना बेहतर हमको रतन-भवन नहिं भावै है।
लता तले पड़ रहनेमें सुख नाहिन सेज सुहावै है॥
सोना कर धर सीस भला अति, तकिया ख्याल न आवै है।
'ललितकिशोरी' नाम हरीका जपि-जपि मन सचुपावै है॥
अब बिलम्ब जनि करो लाडिली कृपा-दृष्टि टुक हेरो।
जमुना-पुलिन गलिन गहवरकी विचरूँ साँझ-सबेरो॥
निसिदिन निरखौं जुगुल-माधुरी रसिकन ते भटभेरो।
'ललितकिशोरी' तन-मन-आकुल श्रीबन चहत बसेरो॥

—ललितकिशोरी

एक नन्दनन्दन प्यारे व्रजचन्द्रकी झाँकी निरखनेके सिवा उसके मनमें फिर कोई लालसा ही नहीं रह जाती, वह अधीर होकर अपनी लालसा प्रकट करता है—

एक लालसा मनमहँ धारूँ।
वंशीबट, कालिन्दी-तट नट-नागर नित्य निहारूँ॥
मुरली-ताल मनोहर सुनि-सुनि तनु-सुधि सकल बिसारूँ।
छिन-छिन निरखि झलक अँग-अंगनि पुलकित तन-मन वारूँ॥
रिझऊँ श्याम मनाइ, गाइ, गुन, गुंजमाल गल डारूँ।
परमानन्द भूलि सिगरौ जग, श्यामहिं श्याम पुकारूँ॥

—अकिंचन

बस यही तीव्रतम शुभेच्छा है।

साधनके विघ्न

वास्तविक शुभेच्छा उत्पन्न होनेके बाद तो प्राय: वह कभी मन्द नहीं पड़ती, परंतु आरम्भमें साधकके मार्गमें अनेक विघ्न आया करते हैं। अत: उन विघ्नोंसे बचनेके लिये निरन्तर सचेष्ट रहना चाहिये। कुछ प्रधान विघ्न ये हैं—

स्वास्थ्यका अभाव

सबसे पहला विघ्न है स्वास्थ्यका बिगड़ जाना। अतएव साधकको स्वास्थ्यरक्षाके लिये संयम और नियमित खान-पान करना चाहिये। स्वास्थ्य जबतक ठीक रहता है तभीतक मनुष्य साधन कर सकता है। रोगपीड़ित शरीरसे साधन बनना प्राय: असम्भव है। अवश्य ही स्वास्थ्य बनाये रखनेका लक्ष्य भोगविलास नहीं, ईश्वर-प्राप्ति ही होना चाहिये। परंतु यह भी याद रखना चाहिये कि ईश्वर-प्राप्ति साधन बिना नहीं हो सकती और साधन करनेके लिये स्वस्थ शरीरकी आवश्यकता है। इसलिये सोने, काम करने, खाने-पीने आदिके ऐसे नियम रखने चाहिये जिनसे शरीर स्वस्थ रहना सम्भव हो। प्रकृति-सेवन, नियमित व्यायाम और आसनोंसे स्वास्थ्यको बड़ा लाभ पहुँचता है।

खान-पानमें असंयम

दूसरा विघ्न आहारकी अशुद्धि और असंयम है। बहुधा खान-पानके असंयमसे ही स्वास्थ्य बिगड़ता है। इतना ही नहीं, इससे मानसिक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिये हमारे शास्त्रकारोंने आहार-शुद्धिपर बड़ा जोर दिया है। अन्नके अनुसार ही मन बनता है। मनुष्य जिस प्रकारका भोजन करता है उसके भाव, विचार, बुद्धि और स्फुरणाएँ प्राय: वैसी ही होती हैं, जो लोग मांस, मद्य आदि

तामसिक पदार्थोंका सेवन करते हैं, उनमें निष्ठुरता, क्रूरता और निर्दयता अधिक देखनेमें आती है। प्राणियोंकी अकारण हिंसामें भी सच्चे हृदयसे उनको दुःख नहीं होता। तामसी-राजसी आहारसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, मत्सर आदि दोष उत्पन्न होकर साधकके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यको बिगाड़ देते हैं, जिससे वह साधन-पथसे गिर जाता है। अधिक मिर्चवाला, अधिक नमकीन, अधिक खट्टा, अधिक तीखा, अधिक कड़वा, गरमागरम, अत्यन्त रूखा आहार राजसी तथा बासी, सड़ा हुआ, जूठा, अपवित्र, दुर्गन्धियुक्त आदि आहार तामसी माना गया है। बन पड़े जहाँतक साधकको मसालोंका व्यवहार छोड़ देना चाहिये। अधिक घी और मीठेकी भी आवश्यकता नहीं है। दही नहीं खाना चाहिये। मादक द्रव्योंका सेवन बिलकुल नहीं करना चाहिये। जिस आहारमें बहुत अधिक खर्च पड़ता हो, वह आहार भी साधकके लिये उपयुक्त नहीं है, चाहे वह धनी हो या गरीब। धनी यदि आहारमें बहुत ज्यादा खर्च करता है तो उसके लिये तो वह प्रमाद है ही, परन्तु गरीबोंपर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। देखा-देखी उनका भी मन ललचाता है। उनके पास पैसे होते नहीं, इन्द्रियाँ जोर देती हैं, अतएव उन्हें बहुमूल्य आहारके लिये अन्यायसे चोरी आदि करके धन कमानेमें प्रवृत्त होना पड़ता है। जो धन अन्यायसे कमाया हुआ है, उस धनके अन्नका मनपर बहुत बुरा असर पड़ता है, इसीलिये आहारशुद्धिमें जातिकी अपेक्षा न्याय और धर्मसे उपार्जित अन्नका महत्त्व अधिक है। चोर, मांसभोजी, दूसरोंकी गाँठ काटनेवाले, छली-कपटी, घूसखोर, व्यभिचारी और अन्यायी ऊँची जातिवाले पुरुषकी अपेक्षा सत्यपरायण, सत् कमाई करनेवाले, इन्द्रियजयी, न्यायी, सरल शूद्रका अन्न शुद्ध और पवित्र है; क्योंकि उससे बुद्धिकी वृत्तियाँ नहीं बिगड़तीं। यथासम्भव आहार अल्प करना अच्छा है।

संदेह

तीसरा विघ्न है साधनमें संदेह। मनुष्य एक बार किसीके कहनेसे साधनमें लगता है, पर साधन आरम्भ करते ही उसे सिद्धि नहीं मिल जाती, इससे वह अपने साधनमें संदेह करने लगता है। यह संदेह बहुत अच्छे श्रद्धालु पुरुषोंको भी प्रायः हो जाया करता है। उसकी बुद्धिमें समय-समयपर यह भावना होती है कि 'न मालूम ईश्वर हैं या नहीं, हैं तो मुझे मिलेंगे या नहीं, मैं जो साधन करता हूँ सो ठीक है या नहीं। ठीक होता तो अबतक मुझे लाभ अवश्य होता, हो-न-हो साधनमें कोई गड़बड़ है।' इस तरहके विचारोंसे उसका साधन शिथिल पड़ जाता है। साधनकी शिथिलतासे लाभ और भी कम होता है, जिससे उसका संदेह भी और बढ़ने लगता है। यों होते-होते अन्तमें वह साधनसे च्युत हो जाता है। साधकको सबसे पहले तो भगवान्‌के अस्तित्वमें दृढ़ विश्वास करना होगा, फिर अपने साधनपर श्रद्धा और विश्वास रखकर उसे करते ही रहना पड़ेगा। जैसे कई तरहकी बीमारियोंमें फँसे हुए मनुष्यको औषधसेवनसे किसी एक बीमारीके नष्ट हो जानेपर भी लाभ नहीं मालूम होता, इसी प्रकार मलसे पूर्ण अन्तःकरणमें तनिक-से मलका नष्ट होना दीखता नहीं; परंतु यह निश्चय रखना चाहिये कि सच्चे साधनसे कोई लाभ अवश्य होता है, साधनमें मनुष्य जितना आगे बढ़ेगा, उतना ही उसे लाभ अधिक प्रतीत होगा। फिर उसे इस बातका पता लग जायगा कि भगवत्-सम्बन्धी बातें केवल कल्पना नहीं, परन्तु ध्रुव सत्य हैं।

सद्‌गुरुका अभाव

ऐसे यथार्थ साधनमें प्रवृत्त होने और रहनेके लिये सद्‌गुरुकी आवश्यकता है। सद्‌गुरुका अभाव ही सच्चे साधनसे साधकको अपरिचित रखता है और इसीसे वह श्रद्धारहित होकर साधन छोड़

देता है। यह विषय बहुत ही विचारणीय है, क्योंकि वर्तमान कालमें सच्चे त्यागी, अनुभवी सद्‌गुरुओंकी बहुत कमी हो गयी है। यों तो आजकल गुरुओंकी संख्या बहुत बढ़ गयी है, जिधर देखिये, उधर ही गुरु और उपदेशकोंकी भरमार है। परन्तु इन गुरुओंके समुदायमें अधिकांश दम्भी, दुराचारी, परधन और परस्त्री-कामी, नाम चाहनेवाले, पूजा करानेवाले, बिना ही साधनके अपनेको अनन्य भक्त, परम ज्ञानी—यहाँतक कि ईश्वरतक बतलानेवाले कपटी पाये जाते हैं। इसीसे सच्चे उपदेशकोंका भी आज कोई मूल्य नहीं रहा। ऐसी स्थितिमें सद्‌गुरुका चुनाव करना बड़ा कठिन है। तथापि मामूली कसौटी यही समझनी चाहिये कि जो पुरुष किसी भी हेतुसे धन नहीं चाहता और किसी भी कारणसे स्त्री या स्त्री-संगियोंका संग करना नहीं चाहता, जिसका व्यवहार सरल और सीधा है और जिसके उपदेशोंके अनुसार कार्य करनेसे वास्तविक लाभ होता नजर आता है, ऐसे निःस्वार्थी पुरुषके बतलाये हुए मार्गसे चलनेमें कोई बाधा नहीं है। धन-स्त्री, मन्त्र-यन्त्र, भूत-प्रेत और चमत्कार आदिकी बातें करने, चाहने, समझाने और प्रचार करनेवाले पुरुषोंसे दूर रहना अच्छा है। परन्तु किसी अच्छे पुरुषको पाकर उसके बतलाये हुए साधनको छोड़ना भी नहीं चाहिये। जहाँतक उसमें कोई भारी दोष न दीखे, वहाँतक उसपर संदेह न करके साधनमें लगे रहना चाहिये। नित नये गुरु बदलनेसे साधनमें बड़ी गड़बड़ी मच जाती है। क्योंकि अच्छे पुरुष भी भिन्न-भिन्न मार्गोंसे साधन करनेवाले हैं, लक्ष्य एक होनेपर भी मार्ग अनेक होते हैं। आज एकके कहनेसे प्राणायाम शुरू किया, कल दूसरेकी बात सुनकर हठयोग साधने लगे, परसों तीसरेके उपदेशसे नाम-जप आरम्भ किया और चौथे दिन चौथेके व्याख्यानके प्रभावसे वेदान्तका विचार करने लगे। इस तरह जगह-जगह भटकने और बात-बातमें साधन बदलते रहनेसे कोई-सा साधन भी सिद्ध

नहीं होता। इसीलिये साधनमें सद्‌गुरुके आज्ञानुसार एक निष्ठा और नियमानुवर्तिताकी बड़ी आवश्यकता है।

नियमानुवर्तिताका अभाव

नियत समयपर सोना, उठना, भोजन करना मनके एकाग्र होनेमें बड़े सहायक होते हैं। नियमानुवर्तिताका अभाव साधनमें एक भारी विघ्न है। कोई नियम न रहनेसे दिनचर्यामें बड़ी गड़बड़ी रहती है। जीवन भी इसी तरह गड़बड़ीमें बीतता है। दिन-रातके चौबीस घंटोंमें कम-से-कम तीन घंटेका नियत समय ईश्वर-चिन्तन और ध्यानके लिये अलग रखना चाहिये। किसी अड़चनवश एक साथ लगातार इतना समय न मिलता हो तो प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय मिलाकर समय निकालना चाहिये, परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि समय, स्थान, आसन और प्रणालीमें बार-बार परिवर्तन न किया जाय।

प्रसिद्धि

साधनमें एक बड़ा भारी विघ्न 'साधककी प्रसिद्धि' है। जब लोग जान जाते हैं कि अमुक मनुष्य साधन करता है, तब उसके प्रति स्वाभाविक ही कुछ लोगोंकी श्रद्धा हो जाती है। जिनकी श्रद्धा होती है, वे समय-समयपर मन, वाणी, शरीरसे उसका आदर करने लगते हैं। जिन्हें आदर, मान आदि प्रिय नहीं होते, ऐसे मनुष्य संसारमें सदासे ही बहुत थोड़े हैं। साधक भी मनुष्य है, उसे भी आदर, मान, प्रतिष्ठा आदि प्रिय प्रतीत होते हैं। अतएव ज्यों-ज्यों उसे इनकी प्राप्ति होती है, त्यों-ही-त्यों उसकी लालसा अधिक लोगोंसे अधिक-से-अधिक सम्मान प्राप्त करनेकी होने लगती है। इससे परिणाममें उसका ईश्वर-सम्बन्धी साधन सम्मान-प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करनेके साधनरूपमें बदल जाता है। जिस कार्य, जैसी बोलचाल, जैसे आचरण और जिस तरहकी कार्यवाहियोंसे सम्मान

मिलता हो; बस, उन्हींको करना उसके जीवनका लक्ष्य बन जाता है। इससे ज्यों-ज्यों उसका परमार्थ-साधन घटता और छूटता है, त्यों-ही-त्यों उसका तेज, निःस्पृहता, उदासीन-भाव, उसकी सरलता, ईश्वरीय श्रद्धा और परमार्थ-साधना नष्ट होती जाती है। उसके हृदयमें लोगोंको रिझाकर उन्हें प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे चापलूसी, कामना, पक्षपात, कपट, अश्रद्धा और परमार्थविमुख कार्योंमें प्रवृत्ति आदि गिरानेवाले भावसमूह उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे वह और भी हतप्रभ होकर अपने प्रशंसकोंसे दब जाता है, वे प्रशंसक भी फिर पहले-जैसे सच्चे सरल श्रद्धालु नहीं रहते, उनके आदर-मान देनेमें भी कपट भर जाता है। शेषमें दोनों ही परमार्थसे सर्वथा गिरकर पाप-पंकमें फँस जाते हैं। शुभ कर्म और सदाचरण करनेवालोंके विरोधी तामसी प्रकृतिके मनुष्य भी संसारमें सदासे रहते ही हैं। उनका द्वेष तो पहलेसे रहता ही है, ऐसे समयमें साधक और उसकी मण्डलीको सब प्रकार हीन पुरुषार्थ देखकर उन्हें विशेष मौका मिल जाता है। वे उन्हें छल-बल-कौशलसे और भी गिरानेकी चेष्टा करते हैं, जिससे परस्पर वैर ठन जाता है। दोनों ओरकी शक्तियाँ एक-दूसरेके छिद्रान्वेषण और उनपर मिथ्या दोषारोपण कर उन्हें नीचा दिखाने और गिरानेमें ही खर्च होने लगती हैं, जिससे जीवन कष्ट और अशान्तिमय बन जाता है। साधकका सत्त्वमुखी हृदय इस समय तमसाच्छादित होकर क्रोध, मोह और दम्भसे भर जाता है। इन सब दोषोंपर विचारकर जहाँतक बने साधक प्रसिद्ध होनेकी चेष्टा कदापि न करे। अपने साधनको यथासम्भव खूब छिपावे, उपदेशक या आचार्यका पद कभी भूलकर भी ग्रहण न करे, जगत्के लोग उसमें अपनेसे कोई विशेषता न समझें, इसीमें उसका भला है। मतलब यह कि भजन-साधनको यथासम्भव साधक न तो प्रकट करे, न दिखावे ही। वह लोगोंसे अपनेको श्रेष्ठ भी न समझे; क्योंकि

इससे भी अपनेमें अभिमान और दूसरोंके प्रति घृणा उत्पन्न होनेको स्थान रहता है। जो साधक अपने साधनकी स्थितिसे अपनेको ऊँचा समझता या लोगोंमें प्रकट करता है, वह तो गिरता ही है; परंतु वह जितना है, उतना भी प्रकट करनेमें उपर्युक्त प्रकारसे गिरनेका ही भय रहता है। साधककी भलाई इसीमें है कि वह जितना है, दुनिया उसको सदा उससे कम ही जाने। बाहरसे नीचे रहकर अन्दरसे ऊँचा उठते जाना ही साधकके लिये कल्याणप्रद है।

कुतर्क

साधनमें एक विघ्न है तर्कबुद्धिका विशेष बढ़ जाना। जहाँ बात-बातमें तर्क होता है, वहाँ साधनमें श्रद्धा स्थिर नहीं रहती। श्रद्धाका अभाव स्वाभाविक ही साधनको शिथिल कर देता है। यद्यपि इस दम्भ, कपट-पाखण्ड और बाहरी चमक-दमकके युगमें भण्ड, नररूपधारी व्याघ्र-गुरुओं, भक्तों और साधु कहलानेवालोंके झुंडोंसे बचनेके लिये तर्कबुद्धिकी बड़ी आवश्यकता है; परंतु जब तर्क बढ़कर मनुष्यके हृदयको अत्यन्त संदेहशील बना देता है, तब उसके लिये किसी भी साधनमें मन लगाकर प्रवृत्त रहना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—'**संशयात्मा विनश्यति**' सत्यकी खोजके लिये तर्क करना उचित है; पर हठ और अभिमानसे कुतर्कका आश्रय लेना सर्वथा अनुचित है। जो साधक शास्त्र और सद्गुरुके वचनोंमें विश्वास नहीं करता, वह सत्यका अन्वेषण कर उसकी प्राप्ति कभी नहीं कर सकता। इसलिये कुतर्कसे सदा बचना चाहिये।

स्त्यान

साधनमें एक विघ्न है स्त्यान यानी चेष्टा छोड़ देना। कुछ दिन साधन करनेपर मनकी ऐसी दशा हुआ करती है। साधारणतः साधक अनेक प्रकारकी असाधारण आशाओंको लेकर साधनमें लगता है, उसकी वे आशाएँ जब थोड़े-से साधनसे पूरी नहीं होतीं, तब वह

साधनसे उदासीन होकर चेष्टारहित बन जाता है, मन निकम्मा रहता नहीं। जब वह सत्-चेष्टासे हट जाता है, तब कुचेष्टा करने लगता है। परिणाममें उसका पतन हो जाता है, इससे कभी उत्साहहीन होकर चेष्टा नहीं छोड़नी चाहिये।

अल्पमें संतोष

एक विघ्न है साधनमें संतोष करना यानी अल्प लाभको ही पूर्ण लाभ समझकर साधन छोड़ बैठना। साधनमें लगा हुआ मनुष्य ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसे विलक्षण आनन्द मिलता है। संसारमें रमे हुए मनुष्य उस आनन्दकी कल्पना भी नहीं कर सकते। साधकने अबसे पहले जिस आनन्दका कभी स्वप्न भी नहीं देखा वैसा आनन्द, सांसारिक पदार्थोंसे प्राप्त होनेवाले आनन्दसे दूसरी ही तरहका अपूर्व आनन्द पाकर वह अपनेको कृतकृत्य समझ लेता है। वह इस बातको भूल जाता है कि वह जिस आनन्दधामका पथिक बना है, उस परमानन्दका तो यह एक कणमात्र है। वह जिस स्वर्गीय राजप्रासादमें जा रहा है, यह उससे बहुत ही बाहरकी एक छोटी-सी कोठरीका कोनामात्र है। इसीलिये वह इस संसारसे विलक्षण आनन्दधामके अपूर्ण आनन्दको पाकर उसीमें रम जाता है और आगे बढ़नेकी आवश्यकता नहीं समझता। साधकको परमार्थके मार्गमें अनेक विलक्षण लक्षण दीख पड़ते हैं; कोई शान्तिका महान् शान्त समुद्र देखता है, कोई अपूर्व आनन्दमें मनको डूबा हुआ देखता है, किसीको जगत् अखण्ड आनन्दसे परिपूर्ण होता दीख पड़ता है, किसीको परम ज्योतिके दर्शन होते हैं, कभी-कभी अनेक आश्चर्यमय स्वर्गीय स्वर सुनायी देते हैं, कभी अद्भुत, आनन्दमय दृश्य Visions दिखलायी पड़ते हैं। अवश्य ही ये सब शुभ लक्षण हैं, परंतु इन्हें पूर्ण मानकर संतोष नहीं कर लेना चाहिये। थोड़ी-सी उन्नति करके भावी उन्नतिके लिये प्रयत्न न करना बहुत बड़ा विघ्न

है। रास्तेकी धर्मशालाको ही अपना घर समझकर बैठ रहनेसे घर कभी नहीं मिलता।

कामना

साधनमें एक विघ्न है विषयोंकी कामना। वैराग्यके अभावसे ही यह हुआ करती है। जिस साधकका चित्त विषयकामनाओंसे सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता, उसके साधन-मार्गमें बड़े-बड़े विघ्न पड़ जाते हैं; क्योंकि कामना ही क्रमशः क्रोध, मोह, स्मृतिनाश और बुद्धिनाशके रूपमें परिणत होकर साधकका नाश कर डालती है। इन्द्रिय-विषयोंकी ओर दौड़नेवाले चित्तका निरन्तर भगवदभिमुखी रहना असम्भव है; अतएव कामनाओंको चित्तसे सदा दूर रखना चाहिये।

ब्रह्मचर्यका अभाव

साधनमें एक विघ्न है ब्रह्मचर्यका पूरा पालन न करना। शरीरके अन्दर ओज हुए बिना साधनमें पूरी सफलता नहीं मिलती। ओजके लिये ब्रह्मचर्यकी बड़ी आवश्यकता है। साधक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या संन्यासी हो तब तो ब्रह्मचर्यका उसे पूरी तरह पालन करना ही चाहिये। कुमारी बहिनें और विधवा माताएँ यदि भगवत्-सम्बन्धी साधन करती हों तो उनके लिये भी यही बात है; परंतु विवाहित स्त्री-पुरुषोंको भी परमार्थसाधनके लिये यथासाध्य शीलव्रत-पालन करना चाहिये। एक पुत्र हो जानेके बाद तो शीलव्रत ले लेनेपर कोई हिचक करनी ही नहीं चाहिये। परंतु परमार्थके साधकोंको पुत्र न होनेकी भी कोई परवा नहीं करनी चाहिये। मनुष्य-शरीर संतानोत्पादनके लिये ही नहीं मिला है, यह तो पशुयोनियोंमें भी होता है। इस शरीरसे तो साधन करके परमधन परमात्माको प्राप्त करना है। अतएव संतानके लिये भी यथासाध्य शीलव्रतका भंग नहीं करना चाहिये। विवाहित स्त्री-पुरुषोंको अवश्य ही शीलव्रत दोनोंकी सम्मतिसे ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा और कई तरहकी आपत्तियाँ आनेकी

सम्भावना है। जो शीलव्रतका लाभ समझता हो, वही दूसरेको प्रेमसे समझाकर अपने मतके अनुकूल बना ले। तदनन्तर यथासाध्य शीलव्रतका नियम ग्रहण करे। सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि जो जितना ही अधिक ब्रह्मचर्यका पालन करेगा, वह उतना ही शीघ्र परमार्थके मार्गमें आगे बढ़ सकेगा।

कुसंगति

एक बहुत बड़ा विघ्न है कुसंगति। कुसंगमें पड़कर बहुत आगे बढ़े हुए साधकोंका भी पतन देखा जाता है। जो लोग प्रत्यक्षरूपसे पापमें रत हैं, उनका संग तो सर्वथा त्याज्य है ही; परंतु जो लोग अपनेको संत, भक्त, योगी या ज्ञानी प्रसिद्ध करते हों, पर जिनमें छल-कपट, भोग-विलास, धन-स्त्रीका अनुराग, परनिन्दा-परचर्चामें प्रेम, गर्व, अभिमान, धूर्तता-पाखण्ड आदि दोष देखनेमें आते हों, उनका संग भी वास्तवमें कुसंग ही है; क्योंकि जिनमें ये सब दोष होते हैं वे कभी सच्चे संत, भक्त, योगी या ज्ञानी नहीं हैं।

कुसंगसे ईश्वर, सच्चे धर्म, सदाचार और साधनमें अनादर उत्पन्न होता है। प्रतिदिन यह सुनते रहनेसे, 'क्या रखा है सत्संगमें? कहाँ है ईश्वर? धर्मसे क्या होता है?' इनमें अश्रद्धा हो जाती है! सदा-सर्वदा विषयोंकी बातें होनेसे उनमें अनुराग और परदोष-श्रवणसे उन लोगोंके प्रति घृणा और द्वेष जाग उठता है। स्त्री, धन, पुत्र, मान आदिकी कामना उत्पन्न होकर बढ़ने लगती है, कुतर्क बढ़ जाता है। राजस-तामस भावोंकी पुष्टि होने लगती है। दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान आदि आसुरी सम्पत्तिके दोषोंका हृदयमें संचार होने लगता है। स्वार्थपरता और पाखण्ड बढ़ जाते हैं। चित्त अशान्त हो जाता है।

ऐसे मनुष्य जगत्में बहुत ही थोड़े होंगे, जिनके मनमें कभी बुरे विचार न उत्पन्न होते हों; क्योंकि बुरे संचित प्रायः सभीके

रहते हैं। केवल शुभ संचित ही हों, तब तो मनुष्य-शरीर ही नहीं मिल सकता। मानव-देह संचित पाप-पुण्य दोनोंके कारण ही मिलता है। मनमें विचार संचित होते हैं। परंतु यदि विवेकका बल हो तो बुरे विचारोंके अनुसार कार्य नहीं होता! वे मनमें उत्पन्न होकर वहीं नष्ट हो जाते हैं। पर यदि कुसंगसे उन विचारोंमें कुछ सहायता मिल जाती है तो वे '**तरंगायिताऽपि मे संगात्समुद्रायन्ति।**' तरंगकी भाँति छोटे-से आकारमें उत्पन्न हुए बुरे विचार शीघ्र ही समुद्र बन जाते हैं और मनुष्य उनमें निमग्न होकर साधनसे सर्वथा गिर जाता है।

कुसंग केवल मनुष्योंका ही नहीं होता। जिस देश, दृश्य, साहित्य, चित्र, विचार, भाव या वचनोंसे मनमें बुरे भावोंकी उत्पत्ति होती हो वे सभी कुसंग हैं। ऐसे स्थानमें नहीं रहना चाहिये जहाँका वातावरण तमोगुणी हो। ऐसे नाटक, खेल, सिनेमा, चित्र या अन्य दृश्य नहीं देखने चाहिये जिनसे मनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, द्वेष आदि बढ़ते हों। ऐसी पुस्तकें या पत्र आदि कभी नहीं पढ़ने चाहिये जिनसे बुरे भावोंकी मनमें जागृति होती हो। आजकलके अधिकांश समाचार-पत्रोंमें प्रायः परदोषदर्शन, परनिन्दा और विषयलिप्साकी ओर मन लगानेवाले लेख और चित्र रहते हैं; यथासम्भव इनसे बचना चाहिये। ऐसे विचार या भावोंको सुनना और मनन करना उचित नहीं, जिनसे मनमें कुसंस्कार जमते हों। ऐसे वचनोंका सुनना, बोलना भी त्याग देना चाहिये जिनसे घृणा, द्वेष, वैर, काम, क्रोध, लोभादिकी उत्पत्ति और वृद्धि होती हो। कम-से-कम परस्त्रीसंगी, प्रमादी, अकारणद्वेषी, संत-साधु-शास्त्र-विरोधी, ईश्वरका खण्डन करनेवाले, दम्भी, अभिमानी, परनिन्दापरायण, लोभी, अन्यायकारी, परछिद्रान्वेषी पुरुषोंके संगसे तो साधकको यथासाध्य अवश्य ही बचना चाहिये।

परदोषदर्शन

साधनमें एक विघ्न है परदोषदर्शन। साधकको इस बातसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रखना चाहिये कि 'दूसरे क्या करते हैं।' उसे तो आत्मशुद्धिमें निरन्तर लगे रहना चाहिये। साधकको अपनी साधनाके कार्यसे इतनी फुरसत ही नहीं मिलनी चाहिये, जिससे वह दूसरेका एक भी दोष देख सके। जिन लोगोंमें दूसरोंके दोष देखनेकी आदत पड़ जाती है, वे साधन-पथपर स्थिर रहकर आगे नहीं बढ़ सकते। साधकोंको हरिभक्त श्रीनारायण स्वामीजीका यह उपदेश सदा याद रखना चाहिये—

तेरे भावैं जो करो, भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठिके अपनो भवन बुहार॥

जब दोष दीखते ही नहीं, तब उनकी आलोचना करनेकी तो कोई बात ही नहीं रह जाती। दोष अपने देखने चाहिये और उन्हींको दूर करनेका यथासाध्य पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

साम्प्रदायिकता

साधनमें एक बड़ा विघ्न है साम्प्रदायिकता। इससे दूसरोंकी अच्छी बातें भी अपने सम्प्रदायके अनुकूल न होनेसे बुरी मालूम होने लगती हैं। इसका यह मतलब नहीं कि साधक अपनी गुरु-परम्परा छोड़ दे या सद्गुरुके बतलाये हुए साधन-पथपर श्रद्धा-विश्वास रखकर तदनुसार न चले। सद्गुरुके आज्ञानुसार निर्दिष्ट मार्गपर चलना तो साधकका अवश्यकर्तव्य है, परंतु साम्प्रदायिक आग्रहवश दूसरोंकी निन्दा करना या दूसरोंको हीन समझना, दूसरोंके साधनमार्ग या ईश्वरकी कल्पनामें दोष दिखाना, उनका खण्डन करना केवल बाह्य आचारोंको ही मुख्य समझना आदि साधकके लिये कभी उचित नहीं!

साधनके सहायक

विघ्नोंको साहसके साथ हटाते हुए खूब दृढ़तासे साधनमें लगे रहना चाहिये। महर्षि पतंजलिने कहा है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

(योग० १। १४)

अभ्यास जबदीर्घकालतक निरन्तर आदरके साथ किया जाता है, तब वह दृढ़ होता है। इसमें तीन बातें बतलायी हैं—अभ्यास दीर्घकालतक करना चाहिये, निरन्तर करना चाहिये और सत्कारबुद्धिसे करना चाहिये।

दीर्घकालसाधन

अल्प साधनसे यथार्थ वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती, जबतक अभीष्टप्राप्ति न हो, तबतक साधन करते ही रहना चाहिये। प्राप्ति हो जानेके बाद भी साधन छोड़नेकी आवश्यकता नहीं, पहले साधन किया जाता है साध्य वस्तुकी प्राप्तिके लिये और सिद्ध हो जानेपर वही साधन स्वाभाविक हो जाता है। जिससे अभीष्ट वस्तु मिलती है, उसे कृतज्ञताके कारण भी छोड़नेको जी नहीं चाहता।

जो लोग थोड़े-से साधनसे ही बहुत बड़ा फल चाहते हैं, ऐसे जी चुरानेवाले लोगोंको प्रायः परमार्थकी प्राप्ति नहीं होती। इस मार्गमें तो नित नया उत्साह और नित नयी उमंग चाहिये। जो आलसी हैं, जरासेमें ही थक जाते हैं, वे इस पथके पथिक नहीं बन सकते। यथार्थ साधक तो बुद्धदेवकी भाँति अटल भावसे कहता है—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्य बोधं बहुकल्पदुर्लभं नैवासनात् कायमनश्चलिष्यते॥

'इस आसनपर मेरा शरीर सूख जाय; मांस, चमड़ी, हड्डी नाश

हो जायँ, परंतु बहुकल्पदुर्लभ बोध प्राप्त किये बिना इस आसनसे कभी नहीं डिगूँगा।'

ऐसा साधक कालकी परवा नहीं करता। कितना ही समय क्यों न लगे, अभीष्ट वस्तुकी उपलब्धि होनी चाहिये।

निरन्तर साधन

दीर्घकालका यह अर्थ नहीं कि साधन तो बरसोंतक करे, परंतु उसका कोई भी नियम न हो। मनमें आया, फुरसत मिली कुछ कर लिया, नहीं तो दो-चार दिन बाद सही। सच्ची और पूरी लगन होनेपर ऐसा हो ही नहीं सकता। जिसको बड़े जोरकी प्यास लगी हुई होती है उसे जलके सिवा दूसरी वस्तु सुहाती ही नहीं। जबतक उसे जल नहीं मिल जाता, तबतक वह व्याकुल रहता है और पल-पलमें केवल जलकी ही स्मृति करता है। उसी प्रकार जो परमात्मारूप स्वातीकी बूँदका पिपासु है, उस चातकरूप साधकको क्षणभर भी कल नहीं पड़ती, वह तो दिन-रात उस एक ही भावमें विभोर रहता है। उसकी बुद्धिमें अपने साधनको छोड़कर अन्य सब विषयोंमें गौणता आ जाती है।

सत्कार और श्रद्धा

इस प्रकार निरन्तर साधनमें लगा हुआ साधक बड़ी सत्कारबुद्धिसे अपना कार्य करता है। जो साधक बेगारमें पकड़े हुएकी भाँति साधन करते हैं या जो बला टालनेके भावसे करते हैं उनकी उस साधनमें आदर-बुद्धि नहीं है, आदर-बुद्धि हुए बिना साधनका पूरा फल नहीं मिलता। जो लोगोंके दिखलानेके लिये या केवल दिल बहलानेके लिये साधन करता है, उसकी भी असलमें साधनमें श्रद्धा नहीं है।

श्रद्धालु साधक तो अपने साधनको जीवनका मुख्य कर्तव्य समझकर करता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह जिस

साधनमें लगा हो उसमें पहले पूर्ण श्रद्धा करे, बिना श्रद्धाके किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। भगवान् गीतामें कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

(१७। २८)

'अश्रद्धासे किया हुआ हवन, दान, तप या कोई भी कर्म 'असत्' कहलाता है। उससे न यहाँ कोई लाभ होता है और न परलोकमें होता है।' श्रद्धा ही साधकका मुख्य बल है। श्रद्धाहीन साधकको पद-पदपर संदेह और कुतर्कोंके थपेड़ोंसे घबड़ाकर साधन छोड़नेके लिये बाध्य होना पड़ता है।

एकान्तवास

ज्ञानके साधकके लिये भगवान्ने '**विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जन-संसदि**' कहकर एकान्तसेवन करने और मनुष्य-समाजसे अनुराग हटानेकी आज्ञा दी है। साधनको परिपक्व बनानेके लिये एकान्तसेवनकी अत्यन्त आवश्यकता भी है, परंतु जबतक साधनमें पूरी लगन न हो, तबतक सारा काम-काज छोड़कर, अपने ऊपर कोई जिम्मेदारी न रखकर दीर्घकालतक एकान्तसेवन करना अधिकांश साधकोंके लिये प्रायः हानिकर होता है, इसलिये नये साधकको चाहिये कि वह परमात्माका ध्यान या प्रार्थना करनेके लिये पहले चौबीस घंटेके दिन-रातमेंसे एक घंटा एकान्तसेवन करे। एकान्तमें मनमें प्रमाद-बुद्धि या आलस्य-निद्रा न सतावे तो क्रमशः समय बढ़ाना चाहिये। यथासाध्य सप्ताहमें एक दिन, महीनेमें चार-पाँच दिन, सालभरमें एक महीना ऐसा निकालना चाहिये, जो केवल परमार्थके साधन और भगवच्चर्चामें ही बीते। इससे मनको जो सात्त्विक भोजन मिलता है, उससे मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहनेमें बड़ी सहायता मिलती है।

परंतु बिना अभ्यासके एकान्तसेवनमें प्रमाद, आलस्य, निद्रा, कुप्रवृत्ति आदि तामसिक दोषोंके वश होनेका बहुत भय रहता है। साधनका अभ्यास न होनेसे समय कटना कठिन हो जाता है और निकम्मे रहनेसे प्रमाद, आलस्य उसे फँसा लेते हैं। आजकल बहुत-से साधु-संन्यासियोंमें गाँजा-भाँग आदि पीने, व्यर्थ गप्पें मारने, इधर-उधरकी बातें करनेकी जो प्रवृत्ति होती जाती है, उसका प्रधान कारण यही है कि उनके पास समय बहुत है, पर काम नहीं है, इसीसे कुसंगतिमें पड़कर वे लोग नाना प्रकारके बुरे व्यसनोंके वश हो जाते हैं। अमीरोंके लड़के ज्यादा इसीलिये बिगड़ते हैं कि उनके पास समय बहुत रहता है परंतु काम नहीं रहता। समय बितानेके लिये उन्हें व्यर्थके काम करने पड़ते हैं। नहीं तो क्या मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय ताश-चौपड़, शतरंज खेलने, व्यर्थकी गप्पें उड़ाने, तीतर-बटेर लड़ाने, परचर्चा करने, दिनभर सोने, प्रमाद करने और पापोंके बटोरनेके लिये थोड़े ही मिला है। अतएव साधकको चाहिये कि एकान्तसेवनकी आवश्यकताको समझकर उसे ईश्वर-चिन्तनके अभ्यासके लिये बढ़ाते हुए भी किसी-न-किसी जिम्मेवारीके कार्यमें अपनेको अवश्य लगाये रखे, वह काम परोपकारका हो या घरका हो, ईश्वरार्पित-बुद्धिसे आसक्ति छोड़कर किये जानेवाले सभी सत्कार्य ईश्वर-भजनमें शामिल हैं। काममें लगे रहनेसे मनको व्यर्थ-चिन्तन या प्रमादके लिये समय ही नहीं मिलेगा। अवश्य ही काम करते समय भी ईश्वर-चिन्तनको छोड़ना नहीं चाहिये, बल्कि ईश्वर-चिन्तन करते हुए ही काम करना चाहिये। इसीसे भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—'**सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च**' सब समय मुझे स्मरण करता रह और युद्ध भी कर। अपनी जिम्मेवारीके कर्तव्य-कर्मको जान-बूझकर छोड़े नहीं, पर उसे करे भगवच्चिन्तन करते हुए। पहले भगवच्चिन्तन, पीछे कर्तव्यकर्म, इस प्रकार

भगवान्‌में मन लगाकर भगवदर्थ कर्म करनेवालेका उद्धार भगवान् बहुत ही शीघ्र कर देते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ७)

'हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमियोंका मैं बहुत शीघ्र इस मृत्युरूप संसारसागरसे उद्धार कर देता हूँ।' वास्तवमें सच्चा एकान्तसेवन तो मनका एकान्तरूपसे परमात्मामें लग जाना है। इस आन्तरिक एकान्तसेवनकी प्राप्तिके लिये ही बाह्य एकान्तसेवनका अभ्यास किया जाता है।

साधुव्यवहार

साधकको व्यवहारमें सदा-सर्वदा साधुता रखनी चाहिये। सब प्रकार दुःख-कष्टोंको शान्तिपूर्वक सहना, क्रोधका बदला क्षमासे देना, वैरके बदले प्रेम करना, शापके बदले वरदान देना, बुरा करनेवालेके साथ भलाई करना, अपनेको सबसे छोटा समझना, अपनेमें किसी बातमें भी बड़प्पनका अभिमान न करना, किसीका दोष न देखना, किसीसे घृणा न करना, किसीके दोषोंकी समालोचना न करना, परस्त्रीमात्रको भगवान्‌का या माताका रूप समझना, आहार-विहारमें संयम रखना, बहुत कम बोलना, अनावश्यक न बोलना, सदा सत्य और मीठे वचन बोलना, यथासाध्य सबकी यथायोग्य सेवा करनेके लिये तैयार रहना, परंतु अपनेमें सेवकपनका अभिमान न रखना, अपने द्वारा की हुई सेवाको परोपकार न समझकर उसे अवश्यकर्तव्य समझना, अपनी सेवामें त्रुटियोंका देखना और उन्हें दूर करनेके लिये सचेष्ट रहना, सेवाके लिये किसीपर अहसान न करना, सेवाका कुछ भी बदला न चाहना,

दीनताका व्यवहार करना, सबसे नम्र व्यवहार करना, माता, पिता, गुरु आदि अपनेसे बड़े लोगोंको सेवासे संतुष्ट रखना, प्रतिष्ठा-मानकी इच्छाका विषके समान त्याग करना, जहाँ प्रतिष्ठा या मान मिलनेकी सम्भावना हो वहाँसे दूर रहना, अपनी बड़ाई सुननेका अवसर ही न आने देना, दीनोंपर दया रखना और उनकी सेवाके लिये बड़े-से-बड़े त्यागके लिये अपनेको तैयार करना; यथासम्भव किसी पंचायतीके प्रपंचमें न पड़ना, सभा-समितियोंसे भरसक अलग रहना, परमार्थमें अनुपयोगी साहित्यको न पढ़ना, विवाह और उत्सव आदि भीड़-भाड़के और अधिक जनसमुदायके अंदर यथासाध्य कम सम्मिलित होना, किसी भी दूसरेके धर्मकी कभी निन्दा न करना, छल छोड़कर सबसे सरल व्यवहार करना और दम्भाचरणसे बचनेकी सदा चेष्टा रखना आदि साधु-व्यवहार हैं; इनमें जो जितनी उन्नति करेगा, वह उतना ही परमार्थके साधनमें अग्रसर हो सकेगा।

साधकको इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिये कि उसके जीवनकी गति किस ओर जा रही है। यदि दैवी सम्पत्तिकी ओर है तो समझना चाहिये कि उसकी उन्नति हो रही है और यदि आसुरी सम्पत्तिकी ओर है तो अवनति हो रही है। यही कसौटी है। भक्ति या ज्ञान कथनमात्रका नाम नहीं है, यह निश्चय रखना चाहिये। भक्ति या ज्ञानके मार्गपर जो आगे बढ़ रहे हैं, उनमें दैवी सम्पत्तिके* गुणोंका विकास होना अनिवार्य है।

---

* दैवी और आसुरी सम्पत्तिका विवेचन श्रीगीताके १६वें अध्यायमें देखना चाहिये। हो सके तो प्रतिदिन उसका पाठ और मनन कर अपनेमें दैवी सम्पत्तिके गुणोंको बढ़ाने और आसुरी सम्पत्तिके अवगुणोंको दूर करनेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

पापोंसे सावधानी

साधकको अन्तत: पापोंसे सदा ही सावधान रहना चाहिये। पापबुद्धि जब मनमें आती है, तब छोटी-सी तरंगके समान आती है; परंतु यदि उसे आश्रय मिल जाता है तो वही बहुत जल्द समुद्रके समान बनकर मनुष्यको डुबो देती है। इसलिये तनिक-से भी पापकी कभी उपेक्षा न करनी चाहिये, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक। साँपका या सशस्त्र डाकूका घरमें रहना उतना घातक नहीं है जितना तनिक-सी पापबुद्धिका मनमें रहना है।

कुछ लोग कह दिया करते हैं कि पाप करना तो मनुष्यका स्वभाव है या उसके प्रारब्धमें ही पापका योग है, परंतु यह बात सर्वथा असत्य है। न तो पाप करना मनुष्यका स्वभाव है और न पापका विधान प्रारब्धमें ही है। यह तो पाप करनेवालोंकी युक्तियाँ हैं, जो पापमें रत रहते हुए भी स्वभाव या प्रारब्धपर दोष मढ़कर स्वयं निर्दोष बनना चाहते हैं। असलमें यह दुर्बल हृदयकी कल्पनामात्र है। मनुष्यका स्वभाव तो पापोंसे बचकर उन सब भावोंको अपने अन्दर विकसित करनेका है, जो उसे परम सत्य वस्तुके अति निकट ले जानेवाले हैं। पाप तो विषयभोगोंकी आसक्तिसे होते हैं, इस आसक्तिका त्याग किये बिना मनुष्य कदापि सत्य वस्तुकी पहचान नहीं कर सकता। विषयासक्ति तो पशुधर्म है, मनुष्योंने अज्ञानसे इसे अपना स्वभाव मानकर अपनेको परमार्थसे बहुत दूर हटा रखा है। इसीसे हमें बारंबार दु:खोंका शिकार बनना पड़ता है। अतएव हृदयमेंसे खोज-खोजकर बुरी वासनाओंको निकालना चाहिये। जरा-से भी पापको आश्रय देना अपने-आपको सदाके लिये दु:खरूप नरकमें डालनेकी तैयारी करना है। मनुष्यमें भगवान्‌की दी हुई ऐसी शक्ति है कि वह चाहे तो पापके परमाणुमात्रसे बचा रह सकता है। इसीलिये भगवान्‌ने आदेश दिया

है कि हे मनुष्यो! तू अपने-आपको सँभालकर सारे पापोंके निवासस्थान दुर्जय कामरूप शत्रुका नाश कर '**जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥**' (गीता ३।४३)।

प्रभुपर विश्वास

साधकको साधन-पथसे कभी न डिगने देनेका बहुत सुन्दर उपाय 'प्रभुपर अटल विश्वास' है। जो साधक परमात्माकी दयालुता, करुणा, उनके विरद, सुहृद्पन और प्रेमका तत्त्व जानकर उनपर विश्वास रखता है, वह कभी हताश नहीं हो सकता। हमलोग जो पद-पदपर साधनसे गिर जाते हैं इसमें एक प्रधान कारण प्रभुमें विश्वासकी कमी है। भगवान् कहते हैं—'जो मुझे सब प्राणियोंका सुहृद् समझ लेता है वही परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है।' '**सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥**' (गीता ५।२९) वास्तवमें यह बहुत ठीक बात है। परमात्माको सुहृद् जान लेनेपर उसके बलपर, उसके विश्वासपर मनुष्य अपनेको सबल समझकर विषयासक्ति और पापोंको दूर करनेमें सर्वथा समर्थ हो जाता है। हम अपने नित्य-सुहृद् परमात्माको नहीं पहचानते, यह हमारा बड़ा दुर्भाग्य है। साधकको यह निश्चय रखना चाहिये कि परमात्मा मेरा सबसे सच्चा सुहृद् है, नित्य संगी है, मुझे सदा पापोंसे बचाता है। मुझे तो बस उसीके शरण होकर उसीका चिन्तन करना चाहिये, फिर सारा भार उसीके ऊपर है। जो साधक परम विश्वासके साथ ऐसा कर लेता है वह निस्संदेह समस्त विघ्नोंको लाँघकर परमात्माको पा लेता है। भगवान्ने कहा है, मुझमें चित्त लगानेवाला मेरी कृपासे सब प्रकारके संकटोंसे अनायास ही तर जाता है। '**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि**' (गीता १८।५८)।

भगवान्के सामने दीनता

साधकोंके लिये एक बहुत उत्तम उपाय है परमेश्वरके सामने आर्त होकर दीनभावसे हृदय खोलकर रोना। यह साधन एकान्तमें करनेका है। सबके सामने करनेसे लोगोंमें उद्वेग होने और साधनके दम्भरूपमें परिणत हो जानेकी सम्भावना है। प्रात:काल, सन्ध्या-समय, रातको, मध्यरात्रिके बाद या उषाकालमें जब सर्वथा एकान्त मिले, तभी आसनपर बैठकर मनमें यह भावना करनी चाहिये कि 'भगवान् यहाँ मेरे सामने उपस्थित हैं, मेरी प्रत्येक बातको सुन रहे हैं और मुझे देख भी रहे हैं।' यह बात सिद्धान्तसे भी सर्वथा सत्य है कि भगवान् हर समय हर जगह हमारे सभी कामोंको देखते और हमारी प्रत्येक बात सुनते हैं। भावना बहुत दृढ़ होनेपर, भगवान्के जिस स्वरूपका इष्ट हो, वह स्वरूप साकाररूपमें सामने दीखने लगता है एवं प्रेमकी वृद्धि होनेपर तो भगवत्कृपासे भगवान्के साक्षात् दर्शन भी हो सकते हैं। अस्तु।

नियत समय और यथासाध्य नियत स्थानमें प्रतिदिन नित्यकी भाँति आसन या जमीनपर बैठकर भगवान्को अपने सामने उपस्थित समझकर दिनभरके पापोंका स्मरण कर उनके सामने अपना सारा दोष रखना चाहिये और महान् पश्चात्ताप करते हुए आर्तभावसे क्षमा तथा फिर पाप न बने, इसके लिये बलकी भिक्षा माँगनी चाहिये। हो सके तो भक्तश्रेष्ठ श्रीसूरदासजीका यह पद गाना चाहिये या इस भावसे अपनी भाषामें सच्चे हृदयसे विनय करनी चाहिये।

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमकहरामी॥

भरि भरि उदर बिषयको धायो जैसे सूकर ग्रामी।
हरिजन छाँड़ि हरी बिमुखनकी निसिदिन करत गुलामी॥
पापी कौन बड़ो जग मोते सब पतितनमें नामी।
सूर पतितकौ ठौर कहाँ है सुनिये श्रीपति स्वामी॥

हे दीनबन्धो! यह पापी आपके चरणोंको छोड़कर और कहाँ जाय? आप-सरीखे अनाथनाथके सिवाय जगत्‌में ऐसा कौन है जो मुझपर दयादृष्टि करे? प्रभो! मेरे पापोंका पार नहीं है, जब मैं अपने पापोंकी ओर देखता हूँ तब तो मुझे बड़ी निराशा होती है। करोड़ों जन्मोंमें भी उद्धारका कोई साधन नहीं दीखता, परंतु जब आपके विरदकी ओर ध्यान जाता है, तब तुरंत ही मनमें ढाढ़स आ जाता है। आपके वह वचन स्मरण होते हैं, जो आपने रणभूमिमें अपने सखा और शरणागत भक्त अर्जुनसे कहे थे—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'अत्यन्त पापी भी अनन्यभावसे मुझको निरन्तर भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने अबसे आगे केवल भजन करनेका ही भलीभाँति निश्चय कर लिया है। अतएव वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और सनातन परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। हे भाई! तू सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मुझ वासुदेव श्रीकृष्णकी शरण हो जा, मैं तुझे सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर।'

कितने जोरके शब्द हैं, आपके सिवाय इतनी उदारता और कौन दिखा सकता है? **'ऐसो को उदार जग माहीं'** परंतु प्रभो! अनन्यभावसे भजन करना और एक आपकी ही शरण होना तो मैं नहीं जानता। मैंने तो अनन्त जन्मोंमें और अबतक अपना जीवन विषयोंके गुलामीमें ही खोया है, मुझे तो वही प्रिय लगे हैं, मैं आपके भजनकी रीति नहीं समझता। अवश्य ही विषयोंके विषम प्रहारसे अब मेरा जी घबड़ा उठा है, नाथ! आप अपने ही विरदको देखकर मुझे अपनी शरणमें रखिये और ऐसा बल दीजिये, जिससे एक क्षणके लिये भी आपके मनमोहन रूप और पावन नामकी विस्मृति न हो।

हे दीनबन्धो! दीनोंपर दया करनेवाला दूसरा कौन है?

दीनको दयालु दानि दूसरो न कोऊ।
जासों दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ॥
सुर नर मुनि असुर नाग साहब तौ घनेरे।
तौ लौं जौ लौं रावरे न नेकु नयन फेरे॥
त्रिभुवन तिहुँ काल विदित वेद वदति चारी।
आदि अन्त मध्य राम साहबी तिहारी॥
तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।
सुनि सुभाव सील सुजस जाचन जन आयो॥
पाहन पसु बिटप बिहँग अपने करि लीन्हे।
महाराज दसरथके रंक राय कीन्हे॥
तू गरीबको निवाज! हौं गरीब तेरो!।
बारक कहिये कृपालु! तुलसिदास मेरो॥

हे तिरस्कृत भिखारियोंके आश्रयदाता! दूसरा कौन ऐसा है जो आपके सदृश दीनोंको छातीसे लगा ले? जिसको सारा संसार घृणाकी दृष्टिसे देखता है, घरके लोग त्याग देते हैं, कोई भी

मुँहसे बोलनेवाला नहीं होता, उसके आप होते हैं, उसको तुरंत गोदमें लेकर मस्तक सूँघने लगते हैं, हृदयसे लगाकर अभय कर देते हैं। रावणके भयसे व्याकुल विभीषणको आपने बड़े प्रेमसे अपने चरणोंमें रख लिया, पाण्डव-महिषी द्रौपदीके लिये आपने ही वस्त्रावतार धारण किया, गजराजकी पुकारपर आप ही पैदल दौड़े। ऐसा कौन पतित है, जो आपको पुकारनेपर भी आपकी दयादृष्टिसे वंचित रहा है? हे अभयदाता! मैं तो हर तरहसे आपकी शरण हूँ, आपका हूँ, मुझे अपनाइये प्रभो!

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहि मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावे।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन-सरन पावे॥

हे पतितपावन! हे आर्तत्राणपरायण! हे दयासिन्धो! बुरा भला जो कुछ हूँ, सो आपका हूँ, अब तो आपकी शरण आ पड़ा हूँ, हे दीनके धन! हे अधमके आश्रय! हे भिखारीके दाता! मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। ज्ञान-योग, तप-जप, धन-मान, विद्या-बुद्धि, पुत्र-परिवार और स्वर्ग-पाताल किसी भी वस्तुकी या पदकी इच्छा नहीं है। आपका वैकुण्ठ, आपका परम धाम और आपका मोक्षपद मुझे नहीं चाहिये। एक बातकी इच्छा है, वह यह कि आप मुझे अपने गुलामोंमें गिन लीजिये, एक बार कह दीजिये कि 'तू मेरा है।' प्रभो! गोसाईंजीके शब्दोंमें मैं भी आपसे इसी अभिमानकी भीख माँगता हूँ—

अस अभिमान जाइ नहिं भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

बस, इसी अभिमानमें डूबा जगत्‌में निर्भय विचरा करूँ और जहाँ जाऊँ, वहीं अपने प्रभुका कोमल करकमल सदा मस्तकपर देखूँ!—

हे स्वामी! अनन्य अवलम्बन! हे मेरे जीवन-आधार।
तेरी दया अहैतुकपर निर्भर कर आन पड़ा हूँ द्वार॥
जाऊँ कहाँ जगत्‌में तेरे सिवा न शरणद है कोई।
भटका, परख चुका सबको, कुछ मिला न अपनी पत खोई॥
रखना दूर रहा, कोईने मुझसे नजर नहीं जोड़ी।
भला किया, यथार्थ समझाया, सब मिथ्या प्रतीति तोड़ी॥
हुआ निरास उदास, गया विश्वास जगत्‌के भोगोंका।
प्रगट हो गया भेद, सभी रमणीय विषय-सुख रोगोंका॥
अब तो नहीं दीखता मुझको तेरे सिवा सहारा और।
जल-जहाजका कौआ जैसे पाता नहीं दूसरी ठौर॥
करुणाकर! करुणा कर सत्वर, अब तो दे मन्दिर-पट खोल।
बाँकी झाँकी नाथ! दिखाकर तनिक सुना दे मीठे बोल॥
गूँज उठे प्रत्येक रोममें परम मधुर वह दिव्य-स्वर।
हृत्तन्त्री बज उठे साथ ही मिला उसीमें अपना सुर॥
तन पुलकित हो, सुमन-जलजका खिल जायें सारी कलियाँ।
चरण मृदुल बन मधुप उसीमें करते रहें रंगरलियाँ॥
हो जाऊँ उन्मत्त, भूल जाऊँ तन-मनकी सुधि सारी।
देखूँ फिर कण-कणमें तेरी छबि नव-नीरद घन प्यारी॥
हे स्वामिन्! तेरा सेवक बन, तेरे बल होऊँ बलवान।
पाप-ताप छिप जायें, हो भयभीत, मुझे तेरा जन जान॥

इस भावकी प्रार्थना प्रतिदिन करनेसे बड़ा भारी बल मिलता है। जब साधकके मनमें यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि मैं भगवान्‌का दास हूँ, भगवान् मेरे स्वामी हैं, तब वह निर्भय हो जाता है। फिर माया-मोहकी और पाप-तापोंकी कोई शक्ति नहीं जो उसके सामने आ सकें। जब पुलिसका एक साधारण सिपाही भी राज्यके सेवकके नाते राज्यके बलपर निर्भय विचरता है और चाहे जितने बड़े आदमीको धमका देता है, तब जिसने अखिल-लोकस्वामी '**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः**' भगवान्‌को अपने स्वामीरूपमें पा लिया है, उसके बलका क्या पार है। ऐसा भक्त स्वयं निर्भय हो जाता है और जगत्‌के भयभीत जीवोंको भी निर्भय बना देता है।

प्रभुको आत्म-समर्पण

साधकके लिये सबसे ऊँचा, सहजमें ही सिद्धि देनेवाला साधन प्रभुके प्रति आत्म-समर्पण है। भगवच्चरणोंमें अपने-आपको सौंप देना ही सारे शास्त्रोंका गुप्त रहस्य और समस्त साधनोंमें अन्तिम साधन है। सब प्रकारसे ज्ञान-विज्ञान, भक्ति-कर्म आदिका उपदेश कर चुकनेके बाद अन्तमें भगवान्ने यही गुप्त रहस्य अपने प्रिय सखा भक्त अर्जुनको बतलाया था। इसी परम साधनसे मनुष्य अपने जीवनको उच्च-से-उच्च स्थितिपर पहुँचा सकता है।

इस आत्म-समर्पणका अर्थ केवल जीवनके कर्मोंको त्याग हाथ-पैर सिकोड़कर बैठ जाना नहीं है। कुछ लोग भूलसे यही मान लेते हैं कि करने-करानेवाले भगवान् हैं, उन्हींकी शक्ति सबके अन्दर काम करती है, हमारा काम केवल चुप होकर बैठ रहना है। परंतु यह बड़ा भारी भ्रम है, इससे आत्म-समर्पण सिद्ध नहीं होता। आत्म-समर्पणमें सबसे पहले आत्माका अर्पण होता है। आत्माके साथ ही अहंकार, मन, बुद्धि, शरीर सभी उसके अर्पण हो जाते हैं, ऐसा होनेपर साधकको यह स्पष्ट उपलब्धि होने लगती है कि इस शरीर, मन, वाणीसे जो कुछ होता है, सो वास्तवमें भगवान् ही करा रहे हैं। इससे पहले वह समझता था कि 'मैं कर रहा हूँ' अब समझता है कि 'भगवान् कर रहे हैं।' अपने कर्तापनका सारा अहंकार भगवान्के अहंकारमें मिल जाता है; क्योंकि मन, बुद्धि उन्हींके अर्पित हो चुकी है। मन, बुद्धिका सारा स्वातन्त्र्य यहाँपर लुप्त हो जाता है, अब भगवान्का संकल्प ही उसका संकल्प, भगवान्का विचार ही उसका विचार और भगवान्की क्रिया ही उसकी क्रिया है। यदि भगवान् संकल्परहित, विचाररहित और क्रियारहित हैं, तो वह भी वैसा ही है; क्योंकि संकल्प, विचार और क्रिया होनेमें जिस अन्तःकरणकी

आवश्यकता है, वह मन, बुद्धिरूप अन्तःकरण भगवान्‌की वस्तु बन गया है, उसपर उसका अपना कोई अधिकार नहीं रह गया। इसलिये ऐसे साधकका सब जिम्मा भगवान् ले लेते हैं। वे कहते हैं—'जिसने मन, बुद्धि मुझे अर्पण कर दिये हैं, वह निस्संदेह मुझको प्राप्त होता है, '**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्**' परंतु इसमें कार्य त्यागकर निश्चेष्ट हो रहनेका उपदेश नहीं है। इस मन्त्रमें भगवान् कहते हैं कि 'निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर', '**सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च**' इस बातको स्मरण रखता हुआ युद्ध कर कि यह सब भगवान्‌की लीला है, सब कुछ वही कराते हैं, मैं तो उनके हाथकी पुतलीमात्र हूँ। वह यन्त्री हैं, मैं यन्त्र हूँ। जिधर घुमाते हैं उधर ही प्रसन्नतासे घूम जाता हूँ, कभी जरा-सी भी आनाकानी नहीं करता। इसीसे अर्जुनने धर्माधर्मके सारे विचारोंका त्याग करके स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया था कि 'मेरा संदेह जाता रहा, मैं अब तुम जो कुछ कहोगे; वही करूँगा' '**गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव**' (गीता १८। ७३)।

ऐसा साधक कर्म-त्याग या संसार-त्यागकी इच्छा-अनिच्छा नहीं करता। भगवान्‌के खेलका खिलौना बने रहनेमें ही वह अपना सौभाग्य समझता है, क्योंकि इस समय उसकी दृष्टिमें संसारका स्वरूप पहलेका-सा जड नहीं रह जाता, वह सर्वदा सर्वत्र देखता है केवल चैतन्यको और चैतन्यकी विचित्र लीलाको! वह समस्त जगत्‌को हरिका स्वरूप और समस्त कर्म-राशिको हरिका खेल देखता है, इसीसे वह इस खेलमें सदा सम्मिलित रहकर हरिरूप जगत्‌की सेवा किया करता है। परंतु इसमें उसका यह भाव कदापि नहीं रहता कि 'मैं जगत्‌की सेवा करता हूँ, या अपने कर्तव्यका पालन करता हूँ; क्योंकि उसका तो अब कोई कर्तव्य रह ही नहीं जाता, पुतली कर्तव्यका ज्ञान नहीं रखती, वह तो स्वाभाविक ही

मालिकके इशारेपर नाचती है। उसे इस कर्तव्य-ज्ञानकी आवश्यकता भी नहीं रहती, क्योंकि उसकी बागडोर किसी दूसरे सयानेके हाथमें है। ऐसी अवस्थामें संसारके भोगोंकी तो बात ही कौन-सी है, वे तो अत्यन्त तुच्छ, नगण्य हैं, उनकी ओर झाँकना तो उस साधकसे बन ही नहीं सकता; क्योंकि वे तो उसकी दृष्टिमें भगवान्‌की लीलाके अतिरिक्त कोई खास चीज ही नहीं रह जाते। ऊँचे-से-ऊँचे लोक भी उन्हींके लीलाक्षेत्र हैं, उन लोकोंके लिये भी उसका मन नहीं चलता, वह अपनेको सदाके लिये प्रभुकी लीलाका एक खिलौना मानता है। सर्वत्र अबाधित मनोहर नित्य-लीलामें भगवान् उसको अपने हाथमें लिये कहीं भी क्यों न रहें, उस खिलाड़ीके हाथोंसे और उसकी नजरसे तो वह हटता नहीं, फिर खेलकी जगहके एक भागसे दूसरे भागमें जानेकी इच्छा-अनिच्छा वह क्यों करने लगा! हाँ, यदि प्रभु कभी उसे खेलसे अलग होनेको कहते हैं, अपनी नजरसे ओझल करना चाहते हैं, तो इस बातको वह स्वीकार नहीं करता, इसीसे भागवतमें भगवान्‌ने कहा है कि, 'मेरे भक्त मेरी सेवाको छोड़कर मुक्तिको भी स्वीकार नहीं करते'—'**दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः**'।

ऐसा भक्त जगत्‌के सभी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। उसका सेवाकार्य, उसकी व्यापार-प्रवृत्ति, उसकी रण-शूरता और उसका ज्ञान-वितरण सभी कुछ परमात्माकी लीलाके अंग होते हैं। वह इस लीला-अभिनयका एक आज्ञाकारी चतुर पात्र होकर रहता है। उसकी क्रिया और कर्मवासना अहंकारप्रेरित न होकर प्रभुप्रेरित हुआ करती है। ऐसा दिव्य लीला-कर्मी भक्त शुभाशुभ फलरूप कर्म-बन्धनसे सदा ही मुक्त रहता है। भगवान्‌की प्राप्ति तो उसको नित्य रहती ही है; क्योंकि उसकी जीवन-डोर ही भगवान्‌के हाथमें रहती है। मुक्ति अवश्य ही दासत्वके लिये उसके चरणोंकी ओर

ताका करती है, कभी-कभी हठसे चरणोंमें चिपट भी जाती है। एक रसीले भक्त कविने बहुत ही सुन्दर कहा है—

घनः कामोऽस्माकं तव तु भजनेऽन्यत्र न रुचि-
स्तवैवाङ्घ्रिद्वन्द्वे नतिषु रतिरस्माकमतुला।
सकामे निष्कामा सपदि तु सकामा पदगता
सकामास्मान्मुक्तिर्भजति महिमायं तव हरे॥

'हे हरे! हमारी तो तुम्हारे भजनमें ही गाढ़ रुचि है। अन्य किसी भी पदार्थमें नहीं है। तुम्हारे ही चरणयुगलोंमें पड़े रहनेमें हमारा अतुल प्रेम है। हे भगवन्! तुम्हारी कुछ ऐसी अपार महिमा है कि वह बेचारी मुक्ति जब सकाम विषयकामी लोगोंको नापसंद कर डालती है, तब उसी क्षण अपनेको निराश्रय समझकर बड़ी उत्सुकतासे हम भक्तोंके चरणोंमें चिपटकर हमारी चरणसेवा करने लगती है।'

चरण-सेविका बननेपर भी ऐसे भक्त उस मुक्तिके चंगुलमें फँसना नहीं चाहते। इस तरहके ऊँचे साधकोंकी सारी जिम्मेवारी स्वभावतः ही भगवान्‌के ऊपर रहती है। भगवान्‌ने अर्जुनके सामने प्रतिज्ञा करके कहा है—'मैं तुझे मुक्त कर दूँगा, तुझे कोई चिन्ता नहीं, '**अहं त्वा मोक्षयिष्यामि मा शुचः**' हम बड़े ही मन्द-बुद्धि हैं, अविश्वासी और अश्रद्धालु हैं; विविध प्रलोभनोंमें पड़कर व्यर्थ मनोरथ होते रहनेसे हमारा मन संदेहसे भर गया है, जागतिक भोग-सुखोंकी तुच्छ स्पृहा और धर्म-कर्मादिके साधनोंसे इन सुखोंके प्राप्त करनेका उपाय बतलानेवाली पुष्पिता वाणीने हमें मोहित कर रखा है, इसीसे हम भगवान्‌की इस प्रेम-पूरित महान् प्रतिज्ञा वाणीपर परम विश्वास कर अनन्यभावसे उनकी शरण नहीं लेते। इसीसे बारंबार एक कष्टसे दूसरे कष्टमें पड़ते हुए संकटमय अशान्त जीवन बिता रहे हैं—पथ-भ्रष्ट पथिककी भाँति श्रान्त-क्लान्त होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। वास्तवमें यह हमारी बड़ी ही दयनीय दशा है। इस

स्थितिसे छुटकारा पानेके लिये हमें अपनी दृढ़ संकल्पशक्तिके द्वारा भगवान्‌को आत्मसमर्पण करनेका अभ्यास करना चाहिये। अपने प्रत्येक कर्मके मूलमें भगवत्प्रेरणा समझने, प्रत्येक सुख-दुःखको भगवान्‌का दयापूर्ण विधान समझकर उसीमें सन्तुष्ट रहने तथा निरन्तर उसका स्मरण करते हुए प्रत्येक कर्मके बिना किसी भी इच्छा-अभिलाषाके यन्त्रवत् करते रहनेका अभ्यास करना चाहिये।

परंतु केवल मुखसे, 'मैं तुम्हारे शरण हूँ,' 'मैं तो तुम्हें आत्म-समर्पण कर चुका' आदि शब्द कह देनेमात्रसे कुछ भी नहीं होता। अपना माना हुआ सर्वस्व उसके अर्पण कर देना होगा। अहंकार, मन, बुद्धि, शरीरका प्रत्येक संकल्प, प्रत्येक चिन्तन, प्रत्येक विचार, प्रत्येक कामना और प्रत्येक कर्म सब कुछ उसके अर्पण कर देने होंगे। भोगोंकी ओर दौड़ते हुए मन और इन्द्रियोंको लौटाकर उनकी गति सर्वथा भगवान्‌की ओर कर देनी पड़ेगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि एक बार भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेपर मनुष्य समस्त भयसे छूट जाता है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकिकी कवितामें भगवान् श्रीरामके ये वचन सर्वथा सत्य हैं कि—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

'जो कोई प्राणी एक बार भी मेरे शरण होकर यों कहता है कि 'मैं तुम्हारा हूँ' उसे मैं अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

भगवान्‌के इस व्रतमें कोई संदेह नहीं है, एक बार भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण हो जानेपर जीव सदाके लिये अवश्य ही निर्भय हो जाता है। वास्तवमें आत्मसमर्पण होता भी एक ही बार है। समर्पणका अर्थ दान है, दान और ग्रहण एक ही कालमें एक बार ही हुआ करता है, जहाँ एक बार हो चुका, वहाँ सदाके लिये ही हो गया। परंतु हम

एक बार उनको आत्म-समर्पण करते ही कहाँ हैं ? आत्म-समर्पण या शरणका नाम जानते हैं, अर्थ नहीं जानते। हमारा ज्ञान, ध्यान, भजन या तो लोगदिखाऊ होता है या भोगोंको पानेके लिये होता है। हमारे मनकी सारी वृत्तियाँ नदियोंके समुद्रमें जाकर पड़नेकी भाँति सदा संसार-सागरमें जाकर पड़ती रहती हैं, ऐसी अवस्थामें हम निर्भय कैसे हो सकते हैं, अन्तर्यामी भगवान् भला बनावटी बातोंमें क्यों फँसने लगे ? सच पूछिये तो हम भाँति-भाँतिके भयोंमें फँसे हुए हैं। पुत्रके मरनेका भय है, धन जानेका भय है, कीर्तिनाशका भय है, झूठी इज्जतका भय है, शरीरनाशका भय है, घर-समाजके नाराज होनेका भय है। एक भय हो तो बताया जाय ! हमने तो अपने चारों ओर भयका दल बटोर रखा है, इसीसे हमें आज तमाखू-सरीखी तुच्छ चीज छोड़नेमें भी स्वास्थ्य-नाशका भय रहता है; सर्वथा हानिकर रूढ़ि तोड़नेमें भी लोकलाज और समाजका भय लगता है, सच्ची बात कहनेमें भी राजाका भय रहता है। इन्हीं सब भयोंके कारण हम नाना प्रकारके पापोंमें रत रहते हैं, यही आसुरी भाव है। जबतक इन आसुरी भावोंमें फँसे रहकर हम पाप बटोरते हैं, तबतक भगवान्‌के शरण कैसे हो सकते हैं ? भगवान्‌ने तो स्वयं कहा है कि—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

(गीता ७। १५)

'मायाने जिनका ज्ञान हरण कर लिया है, ऐसे पापी आसुरी स्वभावके नराधम मनुष्य मुझ भगवान्‌की शरण नहीं हो सकते।'

इन सब भयके दलोंका दलन कर, सबको पैरोंसे कुचलते हुए दृढ़ और अविराम गतिसे आगे बढ़ना होगा, तब हम निर्भय शरणपदके अधिकारी होंगे।

एक दृष्टान्त

कुछ लोग विदेशसे दुःखी होकर अपने घर जाना चाहते थे। उनका घर हिमालयकी तराईमें उत्तरकी ओर था, परंतु उन्होंने इस बातको भूलकर दक्षिणकी ओर जाना आरम्भ कर दिया। घर जानेकी लगन बहुत जोरकी थी, इसलिये वे उसी उलटे मार्गपर खूब दौड़ने लगे। उन्हींके दो-चार साथी, जिनको सच्चे मार्गका ज्ञान था, उत्तरकी ओर जा रहे थे, रास्तेमें उनकी परस्पर भेंट हो गयी। यथार्थ मार्गपर सीधे घरकी ओर जानेवाले लोगोंने उलटे जाते हुए लोगोंसे पूछा—'भाई! तुम सब कहाँ जा रहे हो?' उनमेंसे कुछने कहा—'हम अपने घर जा रहे हैं।' उन्हींके देशके और एक ही गाँवके ये लोग भी थे। उन्होंने कहा—'भाई! घरके रास्ते तो हमलोग जा रहे हैं, तुम सब उलटे दौड़ते हुए घरसे और भी दूर बढ़े चले जा रहे हो, बहुत दूर निकल जाओगे तो फिर लौटनेमें बड़ी तकलीफ होगी, इस मार्गमें कहीं तुमलोगोंको विश्राम करनेके लिये जगह नहीं मिलेगी। वृक्षकी शीतल छाया या शान्तिप्रद ठंडा जल तो इस ओर है ही नहीं! बड़े जोरकी लू चल रही है, सारा शरीर झुलस जायगा, थककर हैरान हो जाओगे, प्यासके मारे प्राण छटपटानेपर भी कहीं सरोवरके दर्शन नहीं होंगे। इसलिये इस दुःखदायी विपरीत पथको छोड़कर हमारे साथ सीधे रास्ते चलो।' विपरीत-मार्गियोंमें बहुतोंने तो इस बातको सुनना ही नहीं चाहा; उनकी समझसे तो इन बातोंके सुननेमें समय लगाना सुखरूप घर पहुँचनेमें देर करने-जैसा प्रतीत हुआ। कुछने बातें तो सुनीं, परंतु विचार करनेपर उनको इन बातोंमें कुछ सार नहीं दिखायी दिया, वे भी चले गये। कुछ लोग ठहरकर विचार करने लगे; उन्होंने सीधे रास्तेकी तरफ घूमकर देखा, थोड़ी देर वहाँ खड़े रहे, साथ चलनेकी इच्छा भी हुई, उन्हें

अपना मार्ग विपरीत भी प्रतीत हुआ, परंतु वे मोहवश पुराने साथियोंका साथ नहीं छोड़ सके, अतएव अपने मार्गमें शंकाशील होते हुए भी वे उसी उलटे मार्गपर चल पड़े। इन लोगोंमेंसे कुछ तो आगे जाकर ठहर गये और खूब सोच-विचारकर वापस मुड़ गये एवं कुछ अपने पुराने साथियोंकी बातोंमें आकर उसी मार्गसे चल दिये। कुछ थोड़े-से ही ऐसे निकले जो इनकी बातें सुनते ही सावधान होकर एकदम मुड़ गये, मुड़ते ही—उनका सम्पूर्ण शरीर सीधे मार्गके सामने होते ही वे सुन्दर स्वच्छ प्रकाशमय पथ और सामने ही अपना घर देखकर परम सुखी हो गये। फिर पीछेकी ओर झाँकनेकी भी उनकी इच्छा नहीं हुई। पुराने साथियोंने पुकारा, वापस लौटनेको कहा, परंतु उन्होंने उधरकी ओर मुँह बिना ही फिराये उनसे कह दिया, 'भाई! हम अब इस सुखके मार्गसे वापस नहीं लौट सकते। सीधे मार्गपर आते ही हमें अपना घर सामने दीखने लगा है। घरकी प्रीति अब तो हमें मने करनेपर भी लौटने नहीं देती।' वे नहीं लौटे और झंझटोंसे छूटकर तुरंत अपने घर पहुँचकर सदाके लिये सुखी हो गये।

इसी प्रकार इस संसारमें भी चार प्रकारके मनुष्य हैं—पामर, विषयी, मुमुक्षु और मुक्त। परम और नित्य सुखरूप परमात्माकी खोज सभी करते हैं, सभी सुखके अन्वेषणमें दौड़ते हैं, परंतु अधिकांश मनुष्य पथभ्रष्ट होकर विपरीत मार्गपर ही चलते हैं, इसीसे उन्हें सुखके बदलेमें बारंबार दुःख-कष्टोंका शिकार बनना पड़ता है। कहीं भी शान्ति-सुखके दर्शन नहीं होते। इनमेंसे जो लोग सन्मार्गपर चलनेवाले सदाचारी संत-महात्माओंकी वाणीको सुनना ही व्यर्थ समझते हैं, चौबीसों घंटे 'हाय धन, हाय पुत्र, हाय सुख, हाय भोग, हाय कीर्ति' आदि चिल्लाते हुए ही भटकते हैं, कहाँ जाते हैं—इसका उन्हें स्वयं ही कुछ पता नहीं है तथापि अन्धोंकी तरह चल ही

रहे हैं, वे तो पामर मनुष्य हैं। दूसरे वे विषयी पुरुष हैं, जो कभी-कभी प्रसंगवश अकारण कृपालु संत-महात्माओंद्वारा कुछ परमार्थकी बातें सुन तो लेते हैं; परंतु उनमें उन लोगोंको कोई सार नहीं दीखता, इससे वे सुनकर भी तदनुसार चलनेकी इच्छा नहीं करते। तीसरे मुमुक्षु हैं, इनमें प्रधानतः दो श्रेणियाँ हैं—मन्द और तीव्र। जो मन्द मुमुक्षु हैं, वे सत्संगमें परमार्थकी बातें मन लगाकर सुनते हैं, सन्मार्गपर चलकर भगवत्प्राप्तिकी इच्छा भी करते हैं, मार्गकी ओर कुछ क्षणोंके लिये मुँह फिराकर यानी संसारके बाह्य भोगोंसे मनकी गतिको क्षणभरके लिये रोककर ईश्वरकी ओर लगाना भी चाहते हैं, परंतु विषयी पुरुषोंके संगसे व्यामोहमें पड़कर अपनी पुरानी चाल नहीं छोड़ सकते और पुनः विषयोंमें ही दौड़ने लगते हैं; परंतु जो तीव्र मुमुक्षु होते हैं, वे एकदम मुड़कर अपने मनकी गतिको सर्वथा ईश्वरोन्मुखी कर देते हैं। इस तरफ एक बार दृढ़ निश्चयपूर्वक पूर्णरूपसे लग जानेपर—भगवान्‌के सम्मुख हो जानेपर मनुष्यको कुछ विलक्षण ही आनन्द मिलने लगता है, परमात्मारूप परमानन्दका नित्य निकेतन उसे अत्यन्त समीप—अपने अन्दर-बाहर सब जगह दीखने लगता है, वह फिर किसी तरह भी संसारके बाह्य रूपकी ओर मन नहीं लगा सकता, यही एक बार परमात्माके सम्मुख होना है। हमलोग बाह्यभावको—मुखके शब्दोंको ही आत्म-समर्पण समझकर शास्त्रवचनोंपर सन्देह करने लगते हैं और सोचते हैं कि 'हम तो किसी समय एक बार भगवान्‌के शरणागत हो गये थे, आत्म-समर्पण कर दिया था, परंतु अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ, इससे सम्भव है कि वाल्मीकि-रामायणका यह श्लोक प्रक्षिप्त हो या केवल रोचक वाक्य ही हो।' परंतु यह नहीं सोचते, एक बार पूर्ण आत्म-समर्पण कर चुकनेके बाद किसी प्रकारका भय या अपने उद्धारकी चिन्ता ही कैसे हो सकती है? भगवान्‌को आत्म-समर्पण

करनेवालेको किसका भय और उसका कैसा उद्धार? यदि भय या उद्धारकी चिन्ता है तो आत्म-समर्पण ही कहाँ हुआ? दोष भरा है हमारे अंदर, देखते हैं हम रात-दिन जगत्‌के भोग-सुख और तृप्तिकी असंख्य बाह्य वस्तुओंको, सुख ढूँढ़ते हैं उनमें और सन्देह करते हैं भगवान् और भक्तशिरोमणि ऋषियोंके अनुभूत वाक्योंपर! कैसी विचार-विडम्बना है।

आत्म-समर्पणके लिये अपनेको दुष्कृतों—पापोंसे बचाकर आसुरी भावका आश्रय छोड़कर मायाके द्वारा अपहृत ज्ञानको सत्कर्म और उपासनासे पुनः अर्जन करना होगा और उस ज्ञानके द्वारा परमात्माके स्वरूपको समझकर निश्चल एक निश्चयसे अपना जीवन उन्हें अर्पण कर देना होगा। यही भगवान्‌के एक बार सम्मुख होना है। भगवान्‌के सम्मुख होते ही तत्काल सारे पापपुंज भस्म हो जाते हैं और वह मनुष्य उसी शाश्वती शान्तिरूप परम पदको प्राप्त होता है, जहाँसे पुनः कभी उसका स्खलन नहीं होता। पापोंके छोड़नेका यह मतलब नहीं कि सारे पापोंका फल भोगनेके बाद हम भगवान्‌की शरण लेंगे। इसका अर्थ यही है कि अबसे पापोंको छोड़कर, अपना अवशेष जीवन भगवान्‌को एक निश्चयसे अर्पण कर देना चाहिये, फिर तो भगवान् स्वयं सँभाल लेते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मुझे भजता है तो उसे साधु मानना चाहिये; क्योंकि उसने आगेके लिये केवल मुझे

ही भजनेका निश्चय कर लिया है। उसे केवल साधु मानना ही नहीं चाहिये; वह वास्तवमें बहुत शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और उस नित्य परम शान्तिको प्राप्त होता है। मैं यह सत्य विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।'

भगवान्‌के इन बड़े भरोसेके वचनोंपर विश्वास करके नित्य अपने अत्यन्त समीप रहनेवाले, अपने अंदर ही बसनेवाले उस परमात्माको ज्ञानके द्वारा जानकर उसकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। अश्रद्धा, आलस्य, उद्योगहीनता, भय, संशय, जडता, अविश्वास आदि दोषोंको सब तरहसे तिलांजलि देकर बड़े उत्साहसे भगवान्‌की विश्वलीलामें खिलौना बननेकी भावना करते हुए अग्रसर होना चाहिये।

भगवान्‌के दिव्य मन्दिरका द्वार सबके लिये सदा-सर्वदा खुला है। जो उन्हें चाहेगा वे उसे ही मिलेंगे। जो उनसे प्रेम करेगा, उसीसे वे प्रेम करेंगे। अवश्य ही ज्ञान बिना उनके त्रिगुणातीत स्वरूपका पता नहीं लगता और उनके उस सत्त्वगुणसे भी ऊँचे—अति विलक्षण अनिर्वचनीय स्वरूपका पता लगे बिना यथार्थ आत्म-समर्पण भी नहीं हो सकता; परंतु केवल शुष्क ज्ञानसे भी वहाँतक पहुँचनेमें बड़ी-बड़ी बाधाएँ हैं, ज्ञानके साथ प्रेमामृतकी रस-धारा अवश्य ही बढ़ती रहनी चाहिये। प्रेमके बिना—पराभक्तिके बिना केवल ब्रह्मभूत होनेसे ही भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपका तत्त्वतः ज्ञान नहीं होता।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८। ५४-५५)

'ब्रह्मभूत होनेपर प्रसन्नचित्तवाला पुरुष न किसी वस्तुके लिये शोक करता है, न किसीकी इच्छा करता है, तब सब भूतोंमें समभावसे स्थित वह पुरुष मेरी (परमात्माकी) 'पराभक्ति' को प्राप्त करता है। उस पराभक्तिके द्वारा मुझ (परमात्मा)-को तत्त्वसे भलीभाँति जानता है। इस प्रकार मैं जो हूँ और जिस प्रभाववाला हूँ, उस मुझको भक्तिद्वारा तत्त्वसे जानकर वह तुरंत ही मुझमें प्रवेश कर जाता है।'

अतएव प्रेमसे भगवान्‌का स्मरण करते हुए उन्हें आत्म-समर्पण करनेकी भावनाको प्रबल इच्छा-शक्तिके द्वारा दिनोदिन बढ़ाना चाहिये। आत्म-समर्पणकी इच्छा ज्यों-ज्यों बलवती होगी, त्यों-ही-त्यों परमात्माके दरबारका दरवाजा आप-से-आप खुलता रहेगा और अन्तमें हृदयस्थित श्रीविष्णुचरणसे भव-भय-नाशिनी अलौकिक सुधा-धारा उत्पन्न होकर ज्ञान, वैराग्य और प्रेमरूप त्रिविध धारामें परिणत हो समस्त मन-प्राणको भगवद्‌रूपके प्रवाहमें बहा देगी, फिर जगत्‌का रूप तुरंत ही बदल जायगा। फिर हमें दीख पड़ेगा—सर्वस्व हरिका, दीख पड़ेंगे—सर्वत्र हरि, हरिकी नित्यलीला और उस लीलामें भी केवल हरि ही—'**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव**' (गीता ७।७)।

यही मुक्तिका स्वरूप है, यही साधनका पर्यवसान है, यही परम गति है, इसीको जानने-समझनेवाले आत्माराम भक्त बड़े दुर्लभ हैं—'**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः**' (गीता ७।१९)।

॥ श्रीहरिः ॥

परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार (भाईजी)–के अनमोल प्रकाशन

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
820	**भगवच्चर्चा** (ग्रन्थाकार)	355	**महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर**
050	**पदरत्नाकर**	356	**शान्ति कैसे मिले?**
049	**श्रीराधा-माधव-चिन्तन**	357	**दु:ख क्यों होते हैं ?**
058	**अमृत-कण**	348	**नैवेद्य**
332	**ईश्वरकी सत्ता और महत्ता**	337	**दाम्पत्य-जीवनका आदर्श**
333	**सुख-शान्तिका मार्ग**	336	**नारीशिक्षा**
343	**मधुर**	340	**श्रीरामचिन्तन**
056	**मानव-जीवनका लक्ष्य**	338	**श्रीभगवन्नाम-चिन्तन**
331	**सुखी बननेके उपाय**	345	**भवरोगकी रामबाण दवा**
334	**व्यवहार और परमार्थ**	346	**सुखी बनो**
514	**दु:खमें भगवत्कृपा**	341	**प्रेमदर्शन**
386	**सत्संग-सुधा**	358	**कल्याण-कुंज**
342	**संतवाणी**—ढाई हजार अनमोल बोल	359	**भगवान्‌की पूजाके पुष्प**
347	**तुलसीदल**	360	**भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं**
339	**सत्संगके बिखरे मोती**	361	**मानव-कल्याणके साधन**
349	**भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू-संस्कृति**	362	**दिव्य सुखकी सरिता**
350	**साधकोंका सहारा**	363	**सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ**
351	**भगवच्चर्चा**	364	**परमार्थकी मन्दाकिनी**
352	**पूर्ण समर्पण**	366	**मानव-धर्म**
353	**लोक-परलोक-सुधार**	526	**महाभाव-कल्लोलिनी**
354	**आनन्दका स्वरूप**	367	**दैनिक कल्याण-सूत्र**
		369	**गोपीप्रेम**

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
368	**प्रार्थना—प्रार्थना-पीयूष**	381	**दीन-दुःखियोंके प्रति कर्तव्य**
370	**श्रीभगवन्नाम**	379	**गोवध भारतका कलंक एवं गायका माहात्म्य**
373	**कल्याणकारी आचरण**	382	**सिनेमा मनोरंजन या विनाशका साधन**
374	**साधन-पथ**—सचित्र	344	**उपनिषदोंके चौदह रत्न**
375	**वर्तमान शिक्षा**	371	**राधा-माधव-रससुधा- (षोडशगीत)** सटीक
376	**स्त्री-धर्म-प्रश्नोत्तरी**	384	**विवाहमें दहेज—**
377	**मनको वश करनेके कुछ उपाय**	809	**दिव्य संदेश**..........
378	**आनन्दकी लहरें**		
380	**ब्रह्मचर्य**		

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित कुछ साधन-भजनकी पुस्तकें

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
052	**स्तोत्ररत्नावली**—सानुवाद	1214	**मानस-स्तुति-संग्रह**
819	**श्रीविष्णुसहस्रनाम—** शांकरभाष्य	1344	**सचित्र-आरती-संग्रह**
207	**रामस्तवराज**—(सटीक)	1591	**आरती-संग्रह**—मोटा टाइप
211	**आदित्यहृदयस्तोत्रम्**	208	**सीतारामभजन**
224	**श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र**	221	**हरेरामभजन—** दो माला (गुटका)
231	**रामरक्षास्तोत्रम्**	225	**गजेन्द्रमोक्ष**
1594	**सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह**	1505	**भीष्मस्तवराज**
715	**महामन्त्रराजस्तोत्रम्**	699	**गंगालहरी**
054	**भजन-संग्रह**	1094	**हनुमानचालीसा—** भावार्थसहित
140	**श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली**	228	**शिवचालीसा**
142	**चेतावनी-पद-संग्रह**	232	**श्रीरामगीता**
144	**भजनामृत—** ६७ भजनोंका संग्रह	851	**दुर्गाचालीसा**
1355	**सचित्र-स्तुति-संग्रह**	236	**साधकदैनन्दिनी**